ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त ॥

चतुर्थ भाग

आर्य्यसिद्धान्त नामक मासिकपत्र जो

पं० भीमसेन शर्म्मा द्वारा सम्पादित होता है प्रथमवार

का छपा चुक जाने से द्वितीयवार

सरस्वतीयन्त्रालय-प्रयाग में

तुलसीरामस्वामी के प्रबन्ध से छपा

१४ । १२ । १८९५ ई०

द्वितीयवार ५००   मूल्य ।।।)

विषयसूची-

विषय	पृष्ठ से
१ मूर्तिपूजाविचार	१,
२ जीवात्मविचार	७,
३ मुक्त की पुनरावृत्ति	१७,
४ ब्रह्मज्ञानोपाय	२०, ३७,
५ धर्मसभा फर्रुखाबाद का उत्तर	३०,
६ महामोहविद्रावण का उत्तर	४४,
७ यमसूक्त ऋग्वेद मं० १० सूक्त १४	५३, १७३
८ यमयमीसूक्त ऋग्वेद मं० १० सू० १०	९०, १२५,
९ सद्धर्मदूषणोद्धार की समीक्षा	९७, १०८, ११५, १५७, १८३
१० परमाणु विचार	१०१,
११ धर्मविषयविचार	१०३, ११३,
१२ ऋग्वेदस्य मित्रसूक्त	१२२,
१३ पाषण्डमतखण्डनकुठार का उत्तर	१६५,
१४ ऋग्वेदस्य विवाह सूक्त	१८१,

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ४ } तारीख १५ सितंबर द्वितीय भाद्रपद संवत् १९४७ { अङ्क १

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

मूर्त्तिपूजाविचार भाग २ अङ्क ९ से आगे ॥

पाठक महाशयों को स्मरण होगा कि द्वितीयभाग के कई अङ्कों में मूर्त्तिपूजा विषय में कुछ लेख दिया गया था। वह विषय पूरा नहीं होने पाया पीछे अन्य विषय चल गये तब अवकाश न मिलने से स्मरण नहीं रहा कि कौन विषय अधूरा है और प्रायः विषय अधूरे पड़े भी हैं उन्हीं पर फिर २ लिखा जावे तो जो २ नवीन उपस्थित हैं वा होते हैं उन पर लिख सकना दुर्घट हो जावे। इस कारण पीछे कई विषय अन्य भी अधूरे रह गये हैं उन पर यथावसर विचार होगा॥

अब इस मूर्त्तिपूजाविषय में जैसा प्रकरण बांध कर मैंने लेख चलाया था वहां कुछ शास्त्रीय विचार शेष रह गया सो अब लिखता हूं क्योंकि इस पर लिखने के लिये कई मित्रों की विशेष प्रेरणा देखी गयी है॥

आर्यसिद्धान्त भाग २ अङ्क ९ के पृष्ठ १४२ के अन्त में जो लेख है वह यहां उद्धृत करके विचार किया जाना चाहिये वह यह है—न्यायशास्त्र के अनुसार आत्मा अर्थात् चेतन में क्रिया रहती भी नहीं कि जिस से चेतन विकारी हो जावे। क्रिया सदा जड़ में रहती है इसीलिये वैशेषिककारों ने आत्मा को निष्क्रिय द्रव्य कहा वा माना है सो सब विद्वानों का सम्मत है। सृष्टि की उत्पत्ति चेतन के सम्बन्ध से होती है यह भी सर्वतन्त्रसिद्धान्त है॥

अब यहां यह विचार अवश्य करना चाहिये कि जड़ चेतन का सम्बन्ध वा संयोग किस प्रकार मानना चाहिये वा मान सकते हैं?। चेतन आत्मा दो हैं। एक

जीवात्मा द्वितीय परमात्मा । दोनों का नाम पुरुष है और जड़ का नाम प्रकृति है। संसार में प्रकृति पुरुष दो ही पदार्थ हैं अन्य सब इन्हीं में अवान्तर भेद हो जाते हैं। प्रकृति जड़ होने से निर्बल और चेतन होने से पुरुष प्रबल है । सृष्टि के नियमानुसार सदा निर्बल भृत्य वा भोग्य रहता और प्रबल उस का स्वामी वा भोक्ता रहता है । तो सिद्ध हुआ कि जड़ चेतन का स्वस्वामि वा भोक्तृभोग्य सम्बन्ध है सो यहां भोक्तृभोग्यसम्बन्ध परमेश्वर के साथ नहीं घट सकता क्योंकि वेद में इस का निषेध कर दिया है ॥

ऋग्वेदे-तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

अभिप्राय यह है कि इस शरीर में दो आत्मा रहते हैं उन में जीवात्मा तो अपने किये कर्मरूप वृक्ष के स्वादु फल को चाखता और इसी कारण दुःख भी उठाता है और इस से भिन्न जो द्वितीय परमात्मा है वह कुछ भोग न करता हुआ शुभाशुभ वासनाओं का साक्षीमात्र अन्तर्यामी होकर सहज स्वभाव से अच्छे बुरे कर्मानुकूल फल भोग में नेत्र के साथ सूर्य के तुल्य सहायक वा प्रेरक रहता है वह कर्म फल कुछ नहीं भोगता । और एक बात यह भी है कि यदि परमेश्वर भी जीवात्मा के तुल्य भोक्ता ही माना जावे तो इन दोनो में भेद ही क्या रहे और वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव भी कदापि न हो सके क्योंकि भोग में लिप्त होजाने से अशुद्ध अज्ञानी और बद्ध अवश्य होजावे फिर ऐसे को कोई इष्टदेव नहीं मान सकता। इस से सिद्ध हुआ कि जड़ के साथ भोक्तृभोग्यसम्बन्ध परमेश्वर का नहीं किन्तु स्वस्वामीसम्बन्ध है । और जीवात्मा के साथ दोनों सम्बन्ध हैं । अर्थात् अनेक उपयोगी शरीरादि वस्तुओं का स्वामी तो जीवात्मा है ही पर उस से सुख दुःख का भोग भी अवश्य करता है इसी लिये उस के जन्ममरण होते और परमेश्वर सब भोगों से पृथक् है इसी कारण उस के जन्ममरण नहीं होते । वह सदा सब से पृथक् रहता है । इस विषय में अनेक लोगों के अनेक मत हैं । परन्तु माण्डूक्योपनिषद् पर श्रीगौड़पादाचार्य जो श्रीशङ्कर स्वामी जी के गुरु थे उन्हों ने ठीक लिखा है । यद्यपि हमारे सिद्धान्त से विपरीत उन का सिद्धान्त अद्वैतवाद है तो भी न्यायशास्त्र पर वात्स्यायन ऋषि ने लिखा है कि-

परमतमप्रतिषिद्धं स्वमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः ॥

शास्त्रकारों की शैली है-दूसरे का अविरुद्ध विचार वा मत मान लेना चाहिये अर्थात् सब अंश में सब से विरुद्ध मत नहीं होसकता तो जो अनुकूल हो उस

में अवश्य एकता करनी चाहिये इसी विचार के अनुसार यहां गौड़पादीय तीन कारिका लिखते हैं-

विभूतिं प्रसवन्त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ १ ॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥२॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥३॥

अर्थः-परमेश्वर ने इस सृष्टि को अपना ऐश्वर्य किया है जैसे कोई धनी पुरुष धनादि पदार्थों का उपार्जन कर उन का स्वामी बनता और अपने को कृतकृत्य मानता है वैसे परमेश्वर सृष्टि को विभूति कर के मानता है यह किन्हीं लोगों का मत है। कोई कहते हैं वास्तव में सृष्टि न रची गई और न है किन्तु जैसे स्वप्न में अनेक पदार्थ दीख पड़ते हैं और आंख खुलते ही फिर पता नहीं लगता इसी प्रकार सृष्टि में मनुष्य, घट, पटादि कोई पदार्थ नहीं है किन्तु स्वप्न के तुल्य अभाव से भाव दीख पड़ता है । कोई लोग कहते हैं कि जैसे बाजीगर अनेक वस्तु ऐसे कर २ दिखा देता है जो वास्तव में उस के पास नहीं हैं किसी का शिर काट डालता और किसी को जला देता है और फिर काटे जलाये को ज्यों का त्यों कर दिखाता है इत्यादि वैसे ही परमेश्वर ने यह एक बाजीगर का तमाशा दिखाया है असल में कुछ नहीं है ॥१॥ कोई लोग कहते हैं कि परमेश्वर की इच्छा मात्र से सृष्टि हो जाती है जब उस ने चाहा कि सृष्टि हो तभी होगई और जब चाहा कि अब न रहे तभी प्रलय हो गया । तथा काल की महिमा को कहने वालों का मत है कि काल से सृष्टि होती है अर्थात् जैसे समय आने पर अनेक वृक्षादि फलते फूलते हैं वैसे जब रचना का समय आता है तब काल की महिमा से स्वयमेव सृष्टि हो जाती है ॥२॥ कोई लोग कहते हैं कि परमेश्वर ने सुख दुःख भोगने के लिये सृष्टि रची है कि मैं स्वयं सर्वरूप हो कर सुखादि भोगूं । तथा किन्हीं का मत है कि जैसे छोटे २ बच्चे धूलि के घर चौका चूल्हादि खेलने के लिये बनाते हैं वैसे खेलने के लिये सृष्टि रची कि मैं खेल करूं कुछ बनाऊं बिगाड़ूं बैठा २ क्या करूंगा । अथवा जैसे अनेक स्त्रियों के विषयानन्द भोगने के लिये कोई उद्योग करे वैसे विषयानन्द भोगने के अर्थ संसार को रचा है इसी लिये अवतार ले के अनेक स्त्रियों से भोग करता है ॥

अब गौडपादाचार्य का मत यह है कि वह देव परमात्मा सदातृप्त पूर्णकाम है उस को किसी प्रकार के भोग खेल आदि की इच्छा नहीं किन्तु उस का स्वभाव है कि उत्पत्ति स्थिति प्रलय किया करे। इन सब पक्षों में यहां गौडपादाचार्य जी का पक्ष ठीक मन्तव्य है अन्य सब पक्ष दूषित हो सकते हैं। यदि सृष्टि को उस की विभूति मानें तो परमेश्वर विशेषण से बद्ध हुआ तो (सतु सदैव मुक्तः) इत्यादि शास्त्र से विरुद्ध होगा और जब ऐश्वर्य युक्त होना उस को इष्ट है तो ईर्ष्या द्वेष अवश्य होगा कि मेरी बराबर कोई ऐश्वर्यवान् न हो। न्यायशास्त्र में वात्स्यायन ऋषि ने कहा है:-

नेष्टमनिष्टेनाननुविद्धं सम्भवति। इष्टमप्यनिष्टं सम्पद्यते। अनिष्टहानाय घटमान इष्टमपि जहाति। अनिष्टहानस्याशक्यत्वात्॥

अर्थः—अनिष्ट जिस में न मिला हो ऐसा इष्ट सुख संसार में कहीं किसी को नहीं मिल सकता अर्थात् यह कदापि सम्भव नहीं कि जो भोजन करे उस के मल न हो यहां भोजन करना इष्ट और मल का दुर्गन्ध आना सब को अनिष्ट है। जो स्वादु दर्शनीय भोजन इष्ट मान कर खाया जाता है वही शीघ्र मलरूप वा वान्तरूप अनिष्ट बन जाता है इसी प्रकार स्त्रीसम्बन्धी विषयानन्द इष्ट है वह अनिष्ट हो जाता है जब सामर्थ्य नहीं रहता तो स्वयमेव उस से ग्लानि हो जाती है इत्यादि प्रकार इष्ट भी अनिष्ट बन जाते हैं। देश काल वस्तु भेद से भी इष्ट अनिष्ट और अनिष्ट इष्ट होते रहते हैं अर्थात् संसारी सुख दुःख मधुविषसम्पृक्तान्नवत् मिले रहते हैं। जैसे विष और मीठा दोनों अन्न में मिले हैं। उन का पृथक् होना दुस्तर है वैसे संसारी सुख दुःख मिले हैं पृथक् २ नहीं हो सकते जो अनिष्ट को छोड़ने की चेष्टा वा उपाय करता है वह साथ ही इष्ट को भी छोड़ देता है क्योंकि केवल अनिष्ट छूट नहीं सकता अर्थात् यह नहीं हो सकता कि भूख वा प्यास न लगे और स्वाद मिल जावे तृप्ति होजावे अथवा उपाय किये विना कार्य सिद्ध होजावे यहां भूख प्यास और उपाय में दुःख रहने से अनिष्ट और उस का फल इष्ट है अर्थात् सुख के कारण दुःखसाध्य उपाय को छोड़ने में फलरूप सुख भी साथ ही छूट जायगा। अर्थात् जिस ने घाम नहीं देखा वह छाया के सुख का अनुभव नहीं कर सकता। इस कारण परमेश्वर यदि ऐश्वर्यादि वा कामादि सुख भोग की अभिलाषा करे तो उस के साथ ही अनिष्ट दुःख भी अवश्य भोगे। जो सुख भोगता है वही दुःख भी भोगता है। इस से वह परमेश्वर भी न रहे॥

और जो बाजीगर वा स्वप्न तुल्य सृष्टि मानते हैं उन के मत में उत्पत्ति स्थिति प्रलय कुछ नहीं बनेगा और दृष्टान्त भी नहीं घटता क्योंकि स्वप्न में जो

पदार्थ दीखते हैं उन का कारण जाग्रत् के सत्य पदार्थ हैं यदि जाग्रत् अवस्था में उन २ पदार्थों का सत्यज्ञान नहीं हो तो कदापि स्वप्न नहीं हो सकता इसी प्रकार सभी मिथ्याज्ञानों का कारण सत्य होता है । यदि सत्य सर्प कोई न हो तो रज्जु में सर्पबुद्धि होना सर्वथा असम्भव है जिस ने सर्प को सर्प नहीं जाना कि सर्प इस का नाम वा उस के गुण कर्म स्वभाव ये हैं वह सर्पाकार रज्जु को देख कर कदापि भयभीत नहीं हो सकता और जिस को ज्ञान है कि सर्प इस प्रकार पृथिवी पर पसरता है उस के काटने से मनुष्य मरजाता है वह अन्धकार में सर्पाकार रज्जु को देख कर अवश्य डरेगा इस से सिद्ध हुआ कि मिथ्याज्ञान का कारण सत्यज्ञान ही है फिर मिथ्यासृष्टि जिस को स्वप्न में दीखती है उस के लिये कोई सत्य सृष्टि भी अवश्य चाहिये और सत्यसृष्टि उस के मत में है नहीं तो उस का स्वप्नवत् सृष्टि मानना ही मिथ्या हो गया इसी प्रकार काल से सृष्टि मानने वालों का पक्ष दूषित है । वृक्षादि का दृष्टान्त विषम इस लिये है कि वहां नवीन उत्पत्ति वृक्षादि के तुल्य नहीं । बोने वाले और बीज के विना समय होने पर भी वृक्षादि नहीं होते ऐसा हो तो स्त्री के ऋतुसमय पुरुष का संयोग हुए विना ही समयमात्र से सन्तान होजाने चाहिये सो नहीं होते इस से सिद्ध होगया कि कर्त्ता के विना कालमात्र से क्रिया नहीं होती परन्तु क्रिया होने में काल का उपयोगमात्र है । इत्यादि प्रकार उक्त पक्ष सब दूषित हैं केवल यही सत्य है कि परमेश्वर का स्वभाव ही है कि वह सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करे । और स्वाभाविक वस्तु क्रिया के होने में स्वयं विकारी नहीं होता जैसे सूर्य का स्वाभाविक गुण प्रकाश है उसी से सब संसार का उपकार होता है कोई उस प्रकाश में विरुद्ध काम कर दुःख उठावे तो उस पुरुष का दोष है । अग्नि का स्वाभाविक दाह गुण है वह सब प्रकार सदा बना रहता है । अग्नि के यथावस्थित रहने पर ही अनेक पदार्थ पक जाते वा जल जाते हैं उस में अग्नि को प्रयत्न वा परिश्रम नहीं करने पड़ता है और न उस में हिलना डुलना आदि क्रिया होती है किन्तु स्वाभाविक गुण से वह काम होजाता है इसप्रकार परमेश्वर के स्वाभाविक गुणों से सृष्टि होती है । अग्नि के जड़ होने से उस के स्वाभाविकगुण भी जड़ हैं इस कारण वे साधनमात्र माने जाते हैं और पकाने वाला वा देखने वाला कर्त्ता भिन्न माना जाता है । वैसे ही यहां परमेश्वर चेतन है उस का काम सब ज्ञान पूर्वक है इसी से वह कर्त्ता माना जाता है विलक्षणता वा सर्वशक्तिमत्ता वा सर्वज्ञता उस में यही है कि सर्वदा एक रस रहकर अर्थात् विकारी न होकर भी कर्त्ता कहाता है ॥

व्याकरणशास्त्र में प्रेरक वा प्रयोजक की भी कर्त्ता संज्ञा मानी गयी है । यद्यपि उस क्रिया को प्रयोज्य कर्त्ता ही करता है तथापि प्रयोजक की प्रधानता मानी जाती

है। प्रयोजक कर्त्ता कई प्रकार के होते हैं अयस्कान्त [चुम्बक] की संगति मे लोहा चेष्टा करता है यहां अयस्कान्त भी एक प्रकार का प्रयोजक कर्त्ता है। ज्ञान पूर्वक सब क्रिया चेतन के आश्रय से होती है जैसे शरीरस्थ जीवात्मा भी हाथ पग आदि को पकड़ २ कर नहीं चलाता किन्तु उस की इच्छानुसार हाथ पग आदि चलते हैं। सांख्यशास्त्र पर किसी ने दो कारिका लिखी हैं वे यहां उपयोगी हैं—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्त्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥ १ ॥
अत आत्मनि कर्त्तृत्वमकर्त्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्त्तासौ कर्त्ता संनिधिमात्रतः ॥ २ ॥

अ०—जैसे इच्छा रहित चुम्बक पत्थर के समीप होनेमात्र से लोहा चलता है इसी प्रकार परमात्मा की स्थितिमात्र से जड़ में क्रिया होकर संसार की उत्पत्ति होती है। इस से परमेश्वर को कर्त्ता अकर्त्ता दोनों मानते हैं। इच्छा रहित होने से अकर्त्ता और समीप हुए विना काम न होने से कर्त्ता माना जाता है॥

इस सब लेख का अभिप्राय यही है कि परमेश्वर इस संसार का निमित्त कारण अवश्य है पर क्रिया उस में नहीं रहती इस से उस में हिलना डुलना आदि क्रिया भी नहीं होती। तद्यपि वह स्वामी होने का अभिमानी नहीं कि यह सब मेरा है मैं इस का स्वामी हूं तो भी उस के विना उत्पत्ति स्थिति प्रलय न हो सकने से वह स्वामी ही मानाजाता है जिस से जगत् के साथ उस का स्वस्वामि सम्बन्ध है यह सत्य ठहरता है। जैसी इच्छा मनुष्यादि प्राणी में होती है वैसी इच्छा भी उसमें नहीं इस कारण इच्छा का निषेध किया जाता है क्योंकि मनुष्यादि की इच्छा उन के अन्तःकरण में विकार—हिल चल पैदा करती है परन्तु ईश्वर में स्वाभाविक इच्छा रहती है। अर्थात् यह नियम नहीं है कि जहां इच्छा हो वहां हिल चल भी होना चाहिये। इच्छा में भी भेद है। वृक्ष वा खेत पानी चाहता है इत्यादि प्रसंग में भी इच्छा का प्रयोग होता है वृक्षादि विकारी नहीं होते। वैसे ईश्वर में भी स्वाभाविक इच्छा का भेद है। प्रयोजकत्व धर्म भी उस में स्वाभाविक है इसी प्रकार उस के सब गुण जब स्वाभाविक हैं और वे [स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च] इत्यादि शास्त्रीय प्रमाणों के अनुकूल हैं तो संसार की रचना के लिये उस के साकार होने की वेद विरुद्ध कल्पना करना व्यर्थ है॥

अब इस विषय को मैं समाप्त करता हूं क्योंकि वैसे तो लिखने की समाप्ति होना दुस्तर है विशेष उपयोगी समझा सो लिख दिया जब किसी अंश को लेकर कोई तर्क फिर उठावे गा तब फिर लिखा जायगा॥

पं० नाथूराम शर्मा नाहन निवासी का उत्तर ॥

पाठक महाशयों को स्मरण होगा कि आर्यसिद्धान्त भाग ३ अङ्क ४ के पृ० ६० तक पं० चन्द्रदत्त जी कृत प्रश्नों का समाधान छपा था उन के प्रश्नों में तीन बातें मुख्य हैं एक तो जीव व्याप्य है वा व्यापक द्वितीय वेद की उत्पत्ति प्रवाहरूप से किस प्रकार हुई तृतीय मुक्त की पुनरावृत्ति क्यों कर हो सकती है। पं० चन्द्रदत्त जी ने संस्कृत में प्रश्न लिखे थे उन का उत्तर चिट्ठी द्वारा दिया गया तब अन्य कई महाशयों की सूचनानुसार वे प्रश्नोत्तर आर्यसिद्धान्त में छपा दिये गये। वे प्रश्न संस्कृत वाणी में थे इस कारण उन का उत्तर भी संस्कृत में ही दिया गया था। सर्वसाधारणों के समझने के लिये भाषा भी कर दी थी। और षट्शास्त्र सम्बन्धी प्रश्नोत्तर वस्तुतः संस्कृत में जैसे बन सकते हैं नागरी भाषा में वैसे बनते भी नहीं इस कारण भी संस्कृत में उत्तर देना उचित था। उन्हीं तीनों प्रकार के उत्तरों को देख कर पं० नाथूराम शर्मा ने संस्कृत में तर्क लिखे हैं। यद्यपि यह पत्र मेरे पास वैशाख से आया है तथापि अवकाश न मिलने से उत्तर न दिया मैं उक्त पण्डित जी से क्षमा मांगता हूं। अब उन का पत्र ज्यों का त्यों यहां लिखकर उस की भाषा के पीछे अपनी ओर से उत्तर प्रथम संस्कृत पश्चात् नागरी में क्रमशः लिखा जायगा सब महाशय ध्यानपूर्वक देखें विचारें यह षट्शास्त्र सम्बन्धी विषय है:—

पं० नाथूराम शर्मा का पत्र ॥

श्रीमद्भ्योऽखिलविद्याभ्यासोदिततत्त्वज्ञानेन्दूत्सारितजिह्मास्वान्तःकरणिकसंवृतिरूपान्धकारेभ्यः पण्डितवरभीमसेनशर्मभ्यो नमः—समस्तजगदाधारकृपया वर्ततेत्र शम्। भवादृशां वरीवर्त्ताच्छमुपकारवतां सदा॥ भवद्भिरार्यसिद्धान्तचतुर्थाङ्के जीवस्याणुत्वं मुक्तस्य पुनरावर्त्तनं च निर्णीय यल्लिखितं तत्रेयं वादिविप्रतिपत्तिर्माभूद्विशिष्टस्य व्यापकत्वं तथापि शुद्धस्यात्मनो विभुत्वं भवत्संमतं नवा। आद्ये जातिपर्य्यन्तानुधावनं न संगच्छते द्वितीये गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेप्युपाधियोगाद्भोगदेशकाललाभो व्योमवदिति सूत्रयता कपिलेन विरोधापत्तिरिति श्रुतिरपि विशिष्टस्यैवाणुत्वं व्यनक्ति। अन्यथा बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैवाराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपिदृष्टइति श्रुतेर्नित्यः सर्वगतः स्थाणुरित्यादिस्मृतेश्च

सामंजस्यं न स्यात्। प्राणो हि करणमात्रवृत्तिर्मृतदेहे करणाभावेन प्राणाभावइति विभाव्यम्। आत्मनस्तु प्राणधारकत्वमहंकारविशिष्टस्यैव नान्यस्यान्यथाऽसङ्गोह्ययं पुरुषइत्यागमप्रतिपादितस्यासङ्गत्वस्य व्याघात आपद्येतेति दिक् ॥

यच्च मुक्तस्यापि पुनरावृत्तिरित्यभ्युपगतं तत्कारणं विना निवृत्तेरसंभवान्नसमीचीनमिति प्रतिभाति। अत्र–नान्योपसर्पणेपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावादिति कापिलसूत्रं च प्रमाणम्–कस्यनूनमित्यादिश्रुतिस्तु चन्द्रलोकादिगतानामावृत्तिं बोधयतीति सकलशास्त्रसंमतम्। मुक्तस्यानावृत्तौ संसारस्योच्छेदोपि न संभवति जीवानामनन्तत्वादनापत्तेरित्यलं बहुना। कृपाकांक्षिण्युपच्छंदयति मयि रौक्ष्यमकृत्वा पञ्चमाङ्कउत्तरं प्रदेयम्। भवत्कृपाकांक्षी नाथूराम शर्मा ॥

भावार्थः—सब जगत् के आधार परमात्मा की कृपा से यहां कुशल है आप उपकारी लोगों की कुशलता सदा भली चाहिये। आप ने आर्यसिद्धान्त के चौथे अङ्क में जीव का अणु होना और मुक्त की पुनरावृत्ति का निश्चय करके जो कुछ लिखा है उस में वादी का ऐसा विरुद्ध प्रश्न हो सकता है कि शरीरयुक्त आत्मा की व्यापकता न मानी जावे वा सिद्ध न हो सके तो मत हो तथापि शारीरिक दोष रहित निर्मल शुद्ध आत्मा का व्यापक होना आप के सम्मत है वा नहीं? पहिले पक्ष में शरीरयुक्त आत्मा को व्यापक न मानकर जातिपक्ष पर्यन्त दौड़ना वा जातिपक्ष के आश्रय से सिद्ध करना व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष में शुद्ध मुक्त जीवात्मा को व्यापक न मानो तो (गतिश्रुतेश्च०) इस कपिल सूत्र से आप का पक्ष विरुद्ध होगा। कपिलाचार्य के सांख्यसूत्र का अर्थ यह है कि जैसे घट सम्बन्धी आकाश भिन्न नहीं तो भी घटरूप उपाधि संयोग से भिन्न २ प्रतीत होता है वैसे जीवात्मा के व्यापक होने पर भी शरीरादि उपाधि के संयोग से भिन्न २ भोग देश और काल को प्राप्त होता है। और उपनिषद् की श्रुति भी शरीर विशिष्ट को ही अणुत्व प्रकट करती है। अन्यथा बुद्धि और आत्मा के गुण संयोग से सूक्ष्म अन्य जीवात्मा दीख पड़ता है इस श्वेताश्वतर की श्रुति (नित्यःसर्वग०) आत्मा सब में व्याप्त नित्य स्थित है इस स्मृति (भगवद्गीतास्थ) श्लोकाभिप्राय के साथ मेल नहीं हो सकता। प्राण वायु इन्द्रियमात्र के साथ सम्बन्ध रखने वाला है इसी से मृतशरीर में इन्द्रिय न रहने से प्राण नहीं ठहरता। और आत्मा जो प्राण

पं० नाथूराम शर्मकृत प्रश्नों का उत्तर ॥

का धारण करने वाला माना जाता है सो अहंकार युद्धदशा ही में प्राण धारण करना काम है अन्य दशा में नहीं। अन्यथा (अमकृ०) इस शास्त्रीय प्रमाण से कहे असङ्गत्व का नाश हो जायगा। इत्यादि अनेक दोष हैं ॥

और मुक्त पुरुष की पुनरावृत्ति आपने मानी सो बिना कारण निवृत्ति होना असम्भव होने से ठीक नहीं प्रतीत होती। तथा "(नान्योप०) जड़ प्रकृति अन्य संसारी मनुष्यों को बांधे भी रहे तो भी विना कारण मुक्त पुरुष फिर संसार में नहीं आसकता" इस कपिलकृत सांख्य सूत्र का प्रमाण है (कस्यनूनम्०) इत्यादि वेदमन्त्र तो चन्द्रादिलोक से प्राप्त हुओं की पुनरावृत्ति जताता है इस से विरोध नहीं। मुक्त के न लौटने पर भी संसार की समाप्ति नहीं हो सकती क्योंकि जीव अनन्त हैं। कृपा कर इस का उत्तर दीजिये नाथूराम शर्मा

इदानीं पं० नाथूरामाभिधशर्मप्रेरितदलस्य देववाण्या समासत उत्तरमाविष्क्रियते तच्चानुसन्धेयं मनीषिभिः—यदि विशिष्टस्य व्यापकत्वं नास्ति तर्हि शुद्धस्यापि नास्त्येव नह्यात्मा विपरिणमते दुग्धादिवत् नच तस्य कार्य्यवस्तुषु परिसंख्यानं कैश्चित्कथंचिदपि कर्त्तुं शक्यम्। तथाचोक्तं सांख्यविद्भिः-यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात्स्वभावतः। नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपीति कथनात्प्रतीयते विकारी न भवति यद्येवं तर्हि विशिष्टाविशिष्टयो-र्भेदो वक्तुमशक्यः शुद्धस्यात्मनइति वचनादर्थादायाति सोऽशुद्धो-ऽप्यस्तीति। विरुद्धं धर्मद्वयं चैकस्मिन् वस्तुनि वक्तुमशक्यम्। अतः शुद्धस्य विभुत्वमशुद्धस्य व्याप्यत्वमिति न सम्भवति। अशुद्धा-त्पूर्वं शुद्धेन भाव्यम्। तदा च व्यापकत्वं भवतापि स्वीकार्यमेव पुनर्व्यापकस्य कथं व्याप्यत्वं सम्भवति किमाकाशः कथमपि घटादिव्याप्यरूपो भवितुमर्हति ?। विभुद्रव्यस्य छायाप्रतिबिम्बो-ऽपि केनचिद्दृष्टान्तेनोपपादयितुमशक्यः। नह्याकाशस्य प्रतिबिम्बः क्वापि दृश्यते। अतो जीवात्मा व्याप्योऽल्पोऽस्ति नतु विभुः। आन्तःकरणिकमलिनवासनानुविद्धः सोऽशुद्धइत्युच्यते ज्ञानाद्यु-पायेन मलिनवासनानामभावाज्ज्ञानी शुद्धइति कथ्यते नह्यशुद्धं

सद्वासो व्याप्यं शुद्धं क्रियमाणं व्यापकं भवेदिति वक्तुं युक्तम् । अतः शुद्धाशुद्धदशाद्वयेपि व्याप्यो जीवात्मेति राद्धान्तः ॥

गतिश्रुतेश्चेति सूत्रमपि नास्मत्पक्षे विरुध्यते तदित्थम्—वेदादिशास्त्रेषूच्यते शरीरान्निस्सृतो जीवन्मुक्तो जीवात्मा परमात्मानं गच्छत्याप्नोति वेति यदि च सर्वत्रैकरसतया व्याप्तः परमेश्वरस्तर्हि शरीरे वर्त्तमानोऽपि प्राप्तएव पुनः क्वापि गत्वा प्राप्स्यतीति ज्ञानात्परब्रह्मणो व्यापकत्वं सन्दिग्धं भवतीति संशयनिवृत्तये सूत्रमिदमारब्धम् । यद्यपि वेदादिषु जीवात्मनो गतिः श्रूयते तथापि संसारे सत्सु जन्ममरणेषु शरीराभिमानी जीवात्मा शरीररूपोपाधिसंयोगाद्भोगदेशकालेषु नियतेषु बद्धो लभ्यते नहि तत्र ज्ञानवृत्त्या परमात्मानं प्राप्तः किन्तु कर्मणि बद्धस्तज्ज्ञानाद्दूरं तिष्ठति । सति च ज्ञाने शरीरान्मुक्तो दुःखमात्रान्मुच्यते । शरीरिदशायां नियतभोगदेशकालानाप्नोति । मुक्तिदशायां च बन्धनान्निस्सृतो व्याप्ते ब्रह्मणि स्वच्छन्दतया सर्वत्र जलाग्न्यादिनिरोधमन्तरेण भ्रमति । व्योमवदिति दृष्टान्तः—यथा दशाद्वयेपि व्योम्न्येव वर्त्तमानः संसारिदशायां शरीरे बद्धः सर्वत्र भ्रान्तुमशक्तः । दशान्तरे च नियतभोगदेशकालाद्विमुक्तः सर्वत्राकाशे भ्रमति तथैव परमात्मन्यपि बोध्यम् । श्रुतौ चाविरोधइत्थम्—बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः । इत्यत्र विशिष्टस्यैव ग्रहणं स्यान्न शुद्धस्येति भेदावगमाय न किमपि पदमुपलभ्यते येन प्रतीयेत विशिष्टस्यैवाणुत्वमिति । बुद्धेर्गुणेन ज्ञानेन सत्तारूपेण चात्मगुणेनाधारेण स्वकार्यं साधयन्नाराग्रमात्रोऽतिसूक्ष्मो जीवात्माऽपरः परमात्मनो भिन्नः पृथग्भूतो योगिभिर्दृष्टो ज्ञानेन प्रत्यक्षीकृतोऽस्ति । अर्थादस्मिन् कलेवरे आत्मद्वयमस्ति परमात्मा पूर्वतः प्रस्तुतः स्त्वेक आत्मास्त्येव । अपरोऽपि दृष्ट इति कथनाज्जीवात्मनः स्पष्टतया पृथक्त्वमुच्यते । तत्रायमेव भेदो यज्जी-

वात्मा बुद्ध्यात्मनोर्गुणाभ्यां स्वकार्यं साधयति नतु परमात्मा जीवात्मबुद्धिगुणाभ्याम्। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति स्मृतौ जीवात्मनो वास्तविकस्वरूपं निरूप्यते। अत्र सर्वगतशब्दः सकलजडवस्तुषु सूक्ष्मस्थूलशरीरधारणेन प्रविष्टो जातिरूपेण सर्वकार्ये जगत्यवस्थित इति सूचयति। सर्वशब्दश्चाधिक्यबोधनाय। यथा सर्वकर्मकृद्देवदत्त इति कथनात्कर्मणामनेकत्वं प्रतीयते। नहीदृशीषु श्रुतिस्मृतिषु जीवात्मनोऽणुत्वे सति बाधा जायते। यदि कश्चिद्धेतुभिः प्रतिपादयेत्तदा तादृशं तदुत्तरं दत्तं भवेत्। श्रीमता च पण्डितेन प्रमाणमात्रं धृत्वा स्वपक्षपोषकपरपक्षदूषककारणानि व्याख्यानेनानुपपाद्यैव प्रतिज्ञा साधिता तेन नैव ज्ञायते किमाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां कथं वा सिषाधयिषति तत्रभवानिति। प्राणो हि करणमात्रवृत्तिर्मृतदेहे करणाभावेन प्राणाभावइति विभाव्यम्। इति कथनमतिशयितं शास्त्रीयमर्यादाविरुद्धमतएवास्मिन् विषये प्रमाणमनुपलभ्य शुष्कमेव प्रत्यपादि श्रीमता नहि करणाभावेन प्राणाभावोऽपितु प्राणाभावेन करणाभावइति वाच्यम्। पश्य—प्रश्नोपनिषदि प्राणव्याख्याप्रसंगे। मामोहमापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्वएवोत्क्रामन्ते। अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। इत्यादिना बहुशः प्राणस्य महत्त्वं वर्णितं तेन प्रतीयते प्राणाश्रयाण्येवेन्द्रियाणि न त्विन्द्रियाश्रयः प्राणः। लोकेप्याश्रयाभाव आश्रयिनोऽभावो दृश्यते न त्वाधेयाभाव आधारस्याप्यभावो भवतीति केनचिदुपपादयितुं शक्यम्। एवमिहापि यथा स्वप्नावस्थायामिन्द्रियाणामभावे प्राणश्चलति सुषुप्तौ च। समाधौ च प्राणोवतिष्ठते तदाश्रयेणैवात्मज्ञानं भवति। यदि करणाभावेन प्राणाभावः स्यात् तर्हि स्वप्ने-

ऽपि तत्किमिति न भवति ?। आत्मनः प्राणधारकत्वं सशरीरस्यास्तीति वक्तव्यम्। नत्वहङ्कारविशिष्टस्येति वक्तुमुचितमन्यथा सुषुप्तावनहङ्कारस्यात्मनः प्राणधारकत्वाऽभावे मरणं प्रसज्येत। असङ्गोह्ययं पुरुष इत्यस्यायमाशयोऽलिप्तइति न तत्कृतगुणदोषाभ्यां रागेण वस्त्रमिवात्मा लिप्यतइत्याशयः। अन्य । सर्वधारकः सर्वस्थितिहेतुः सर्वस्मिन् व्याप्तः परमात्मापि सङ्गवर्जितो न स्यात्। यथा सूर्यरश्मयः शुद्धमलिनघृणिततरवस्तुषु सर्वेषु सदा प्रसरन्ति न तु तत्तद्वस्तुकृतगुणदोषैर्लिप्यन्तेऽतस्ता अप्यसङ्गा एवमात्मापि विज्ञेयः। इत्येवं कथनेन सिद्धं—जीवात्मा व्याप्यः परमात्मा व्यापकइति ॥

श्रीमतः पण्डितनाथूरामस्य कः पक्षइति मया न बुध्यते किमद्वैतवादमाश्रित्य भवान् प्रवृत्त आहोस्वित्साङ्ख्यसिद्धान्तमाश्रित्य। अर्थात् तेनात्मद्वयमूरीक्रियतेऽथवा न। यद्येकएवात्मा तर्हि कः, जीवात्मा परमात्मा वा ? यदि जीवात्मास्ति तर्हि जैनानामिव नास्तिकवादः प्रसज्यते। समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥१॥ इतिऋग्वेदे। संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा बुध्यते भोक्तृभावाज् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। इत्यादिशास्त्रप्रतिपादितात्मभेदाभिधायकानि परमात्मनः सर्वाध्यक्षत्वप्रतिपादकानि च वचांसि कथं सङ्गच्छेरन् ?। तथोपास्योपासकभेदप्रतिपादकानि च वेदादिस्थवाक्यानि भवन्मते कथं सङ्गतानि भविष्यन्ति ?। एकः परमात्मास्ति चेत्तथापीमएव दोषाः। यद्यद्वैतवादोऽभिमतस्तर्हि परमात्मनो जीवत्वं कथम् ?। कारणमन्तरेण कार्यं नोत्पद्यते। एवमनेके विवादाः प्रवर्त्तन्ते तेषामवसानं कर्त्तुं दुर्लभम्। अथ कश्चित्पक्षविशेषो नाश्रितः सन्देहनिवृत्त्यर्थएव

प्रश्नस्तर्हि नास्ति विवादस्तदात्मद्वयं स्वस्वामिभावेन सर्वैशिष्टैर्यथाशास्त्रं मन्तव्यमेव ॥

भावार्थः—अब प० नाथूराम शर्मा के प्रेरितपत्र के उत्तर की भाषा संक्षेप से लिखी जाती है बुद्धिमान् लोग इस पर विचार करें यदि शरीरयुक्त आत्मा व्यापक नहीं तो शरीररहित भी व्यापक नहीं हो सकता क्योंकि दूध से दही बनने आदि के तुल्य आत्मा का विपरिणाम अवस्थान्तर नहीं हो सकता और न उस का कार्य वस्तुओं में परिगणन कोई कभी कर सकता है सो सांख्यभाष्य में लिखी (यद्यात्मा०) कारिका से कहा है कि यदि आत्मा मलिन अपवित्र और दुःखादि के तुल्य स्वभाव से विकारी हो तो उस को सैकड़ों जन्म भर उपाय करने से भी मुक्ति नही हो सकती इस कथन से प्रतीत होता है कि वह विकारी नहीं होता जब ऐसा है तो शुद्ध अशुद्ध आत्मा में भेद कहना कि—शरीररहित शुद्ध व्यापक और शरीरसहित अशुद्ध व्याप्य है यह नहीं बन सकता । शुद्ध कहने पर अशुद्ध होना अर्थापत्ति से सिद्ध है और परस्पर विरुद्ध दो धर्म एक वस्तु में हो भी नहीं सकते न कह सकते हैं इस से शुद्ध का विभु होना और अशुद्ध का व्याप्य होना सम्भव नहीं। शरीर धारण कर जब अशुद्ध हुआ तो इस से पहिले शुद्ध होना चाहिये तब तो उस का व्यापक होना आप भी स्वीकार करेंगे ही फिर व्यापक से व्याप्य कैसे हो गया ?। क्या आकाश भी कभी घट आदि व्याप्य पदार्थों का स्वरूप बन सकता है ?। और विभु द्रव्य की छाया वा प्रतिबिम्ब भी किसी दृष्टान्त से सिद्ध नहीं हो सकता जिस से व्यापक आत्मा का प्रतिबिम्ब व्याप्य जीवात्मा हो यह भी नहीं बनता क्योंकि कहीं आकाश का प्रतिबिम्ब वा छाया नहीं होती इस कारण जीवात्मा स्वभाव से व्याप्य और अल्प है किन्तु व्यापक नहीं है। अन्तःकरण सम्बन्धी मलिन वासनाओं से युक्त जीवात्मा अशुद्ध और ज्ञानादि उपाय से मलिन वासनाओं का जब अभाव होता है तब ज्ञानी शुद्ध कहाता है यह नहीं हो सकता कि अशुद्ध मलिन वस्त्र व्याप्य हो और शुद्ध कर लेने पर व्यापक हो जावे इस से शुद्ध अशुद्ध दोनों दशा में जीवात्मा व्याप्य है यह सिद्धान्त है ॥

(गतिश्रुते०) यह सूत्र भी हमारे पक्ष में विरुद्ध नहीं पड़ता सो देखिये—वेदादिशास्त्रों में कहा है कि जीवन्मुक्त ज्ञानी हुआ जीवात्मा मरण समय शरीर से निकला परमात्मा को प्राप्त होता है । जब सर्वत्र एकरसरूप से परमेश्वर व्याप्त है तो शरीर रहने पर भी प्राप्त ही है फिर कहीं जाकर ब्रह्म को प्राप्त होगा इस कथन वा ज्ञान से परब्रह्म के व्यापक होने में सन्देह होता है। इस सन्देह की निवृत्ति करने के लिये यह सूत्र है सांख्यशास्त्र के अध्याय ६ का ५९ वां उक्त सूत्र है ॥

अर्थ—यद्यपि वेदादिशास्त्रों में जीवात्मा की गति सुन पड़ती है कि शरीर से निकल कर परमात्मा के समीप प्राप्त होता है तो भी संसार में जन्म मरणरूप

प्रवाह में पड़ा शरीर में अभिमान रखने वाला कि यही साढ़ेतीन हाथ का मैं हूं ऐसा जीवात्मा शरीररूप उपाधि के संयोग से किसी निज भोग देश और काल में बंधा प्राप्त होता है उस समय ज्ञान की प्रवृत्ति से परमात्मा की प्राप्त नहीं माना जाता किन्तु कर्म में बंधा उस के ज्ञान से दूर रहता है [लोक में भी यही सिद्ध है कि जिस वस्तु का जिस को ज्ञान नहीं न उस से उस को कुछ सुख वा उपकार होता हो तो भले ही पास रक्खा रहे पर उस के लिये हजारहों कोश है वैसे परमेश्वर सब के अन्तःकरण में व्याप्त भी है पर जिस को उस का ज्ञान नहीं उस के लिये बहुत दूर है] और जब ज्ञान होता है तब शरीर से मुक्त हुआ दुःखमात्र से छूट जाता है। शरीर की वर्त्तमान दशा में निश्चित भोग देश और काल को प्राप्त होता है और मुक्तदशा में बन्धन से पृथक् हुआ व्याप्त ब्रह्म में स्वतन्त्रता से जल अग्नि आदि की रोक टोक के विना ही सर्वत्र विचरता है (व्योमवत्) यह दृष्टान्त है जैसे संसार परमार्थ दोनों दशा में आकाश ही में वर्त्तमान जीवात्मा संसार दशा में शरीर में बंधा होने से सर्वत्र भ्रमण नहीं कर सकता और परमार्थ दशा में नियत भोग देश और काल से छूटा मुक्त हुआ जैसे सर्वत्र आकाश में भ्रमता वैसे परमात्मा में भी भ्रमता है ॥

श्रुति जो (बुद्धेर्गुणेना०) कही उस में भी विरोध नहीं क्योंकि इस श्रुति में शरीरयुक्त ही जीवात्मा का ग्रहण हो और शुद्ध का न हो इस भेद को जानने के लिये वहां कोई पद नहीं जिस से निश्चय हो कि शरीरसहित ही जीवात्मा अणु है। श्रुति का अर्थ यह है कि बुद्धि के गुण ज्ञान और आत्मा के सत्तारूप आधार गुण से अपने कार्य को सिद्ध करते हुए परमात्मा से भिन्न अतिसूक्ष्म जीवात्मा को योगीजन ज्ञानदृष्टि से प्रत्यक्ष करते हैं। अर्थात् इस शरीर में दो आत्मा हैं परमात्मा के व्याख्यान का तो पूर्व से प्रकरण चला ही आता है वह तो एक आत्मा है ही पर (अपरोऽपि दृष्टः) इस कथन से जीवात्मा का पृथक् होना स्पष्टरूप से कहा जाता है उस में यही भेद है कि जीवात्मा परमेश्वर के और बुद्धि के गुणों से अपना कार्य सिद्ध करता किन्तु परमेश्वर बुद्धि वा जीवात्मा के गुण से स्वकार्य सिद्ध नहीं करता (नित्यः सर्वगतः) इस स्मृति भगवद्गीता के श्लोक में जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया है यहां सर्वगत शब्द से सूचित होता है कि सम्पूर्ण जड़ वस्तुओं में सूक्ष्म स्थूल शरीर धारण कर प्रविष्ट हो रहा है जातिरूप से सब कार्य जगत् में अवस्थित है सर्व शब्द भी अधिकता जताने के लिये कहा गया है जैसे कोई कहे कि देवदत्त सब काम करता है इस कथन से अनेक कर्म करना प्रतीत हो सकता है। जीवात्मा को अणु मानने में इस प्रकार की श्रुति स्मृतियों में कुछ बाधा नहीं होती यदि कोई कारण वा प्रमाणों से विशेष सिद्ध करे तो वैसा उत्तर दिया जा सकता है श्रीमान् प० नाथूराम शर्मा जी ने प्रमाणमात्र रख के अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करना चाहा

जान पड़ता है किन्तु अपने पक्ष के पोषक और प्रतिपक्ष को दूषित करने वाले कारकों को व्याख्यान से सिद्ध नहीं किया इस से नहीं जान पड़ता कि इन श्रुति स्मृतियों से आप किस प्रकार क्या सिद्ध करना चाहते हैं ॥

और जो कहा कि "प्राण इन्द्रियमात्र से सम्बन्ध रखने वाला है इसी से मरे शरीर में इन्द्रिय न रहने से प्राण नहीं ठहरता" यह कथन शास्त्र की मर्यादा से अत्यन्त विरुद्ध है इसी से इस विषय में प्रमाण न पाकर निष्प्रमाण आप ने कहा है। अर्थात् यह ठीक नहीं कि इन्द्रियों के अभाव में प्राण न रहे किन्तु प्राण के अभाव में इन्द्रिय नहीं ठहर सकते ऐसा कहना चाहिये। देखो-प्रश्नोपनिषद् के प्राणव्याख्या प्रकरण में लिखा है कि (मामोहमापद्यथा०) मोह अज्ञान में न पड़ो प्राण ही पांच ज्ञानेन्द्रियरूप बन कर इस शरीर को धारण कर रहा है। उस प्राण के शरीर से निकलने पर सब मन आदि इन्द्रिय निकल जाते हैं और प्राण के स्थित होने में सब स्थित हो जाते हैं। जैसे रथ के पहिये की पुट्ठी में अरा नामक लकड़ी लगी होती हैं वैसे प्राण में सब इन्द्रिय स्थित हैं। तीनों लोक में जो प्राणिमात्र हैं वे सब भोक्ता प्राण के वश में हो रहे हैं इत्यादि बहुत प्रकारों से प्राण की महिमा वर्णन की गई है इस से निश्चय होता है कि प्राण के आश्रय से इन्द्रिय ठहरते और इन्द्रियों के आश्रय प्राण नहीं। लोक में भी आश्रय वा आधार के अभाव में आधेयगुण वा द्रव्य का अभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है किन्तु आधेय के न रहने से आधार का अभाव होता है ऐसा कोई सिद्ध नहीं कर सकता। तथा जैसे नीला पीला आदि रङ्ग आधाररूप वस्त्रादि की विद्यमान दशा तक ही ठहरता है किन्तु वस्त्रादि के न रहने पर रङ्ग का पता भी नहीं लगता इसी प्रकार यहां भी प्राण की विद्यमानता में सब इन्द्रिय ठहरते हैं और प्राण निकलते ही मरण होने से कोई इन्द्रिय नहीं ठहर सकता यदि इन्द्रियाधीन प्राण हो तो इन्द्रियों के नष्ट होने पर अन्धे बधिर आदि के प्राण भी नष्ट होने चाहिये थे सो नष्ट होना तो दूर रहा प्राण की किंचित् भी हानि नहीं होती अन्धे के प्राण अच्छे प्रबल बने रहते हैं इस से सिद्ध है कि प्राण के आश्रय इन्द्रिय हैं इन्द्रियों के आधीन प्राण नहीं इस लिये पं० नाथूराम शर्मा का विचार उलटा है। तथा और भी विचारिये कि जैसे स्वप्नावस्था और सुषुप्ति में इन्द्रियों का अभाव होने पर प्राण चलता है और असंप्रज्ञात समाधि दशा में प्राण स्थिर होता है उसी के आश्रय से आत्मज्ञान होता है। यदि इन्द्रियों के अभाव में प्राण का अभाव हो तो स्वप्नावस्था वा सुषुप्ति अवस्था में वह क्यों न हो अर्थात् प्राण क्यों नहीं निकल जाता? क्योंकि उस समय इन्द्रियों का अभाव है ही इसी से देखना सुनना आदि कर्म नहीं होता ॥

और आत्मा में शरीरसहित होनेपर प्राणधारण का सामर्थ्य है ऐसा कहना चाहिये अर्थात् यह नहीं कहना चाहिये कि अहङ्कारयुक्त आत्मा में प्राण धारण

करने की शक्ति है क्योंकि ऐसा मानने से सुषुप्ति में अहङ्कार रहित आत्मा में प्राण धारण की शक्ति न हो तो प्राण निकल जाने से मरण होना प्राप्त है सो होता नहीं इस से वह कथन ठीक नहीं। (असङ्गो०) इस का अभिप्राय यह है कि आत्मा शरीरादि सम्बन्धी गुण दोषों से रंग से वस्त्र के तुल्य लिप्त नहीं होता। यदि ऐसा न मानें तो सब का धारण कर्त्ता सब की स्थिति का हेतु सब में व्याप्त परमात्मा भी सङ्ग रहित नहीं हो सकता क्योंकि वह भी तो सब में व्याप्त है। जैसे सूर्य की किरण शुद्ध मलिन और अत्यन्त घृणित आदि सब वस्तुओं में लिप्त नहीं होती इस से वे भी अलिप्त मानी जाती हैं इसी प्रकार आत्मा भी जानने योग्य है। इस प्रकार के इत्यादि कथन से सिद्ध हुआ कि जीवात्मा व्याप्य और परमात्मा व्यापक है ॥

श्रीमत्पण्डित नाथूराम जी का पक्ष क्या है ? यह हम नहीं जानते क्या अद्वैतवाद के आश्रय से आप की शङ्का है अथवा सांख्यशास्त्र के नवीनसिद्धान्त पर, अर्थात् वे दोनों आत्मा को भिन्न २ मानते हैं वा नहीं ? यदि एक ही को मानते हैं तो किस को, जीवात्मा वा परमात्मा को ? । यदि जीवात्मा को मानें तो जैनों के समान नास्तिक वाद का मत हुआ । ऐसा होने पर अर्थात् केवल जीवात्मा के मानने पर वेदादिशास्त्रों से विरोध होगा । ऋग्वेद में लिखा है कि (समाने०) एक कार्य जगद्रूप नाशवान् वृक्ष के साथ पुरुष जीवात्मा लिप्त है यथेष्ट अधिकार न मिलने से मोह अज्ञान में पड़कर शोचता है । जब वह सर्वाध्यक्षरूप अपने से भिन्न निःशोक शान्तरूप परमेश्वर को तथा उस की महिमा को योगाभ्यासादि द्वारा ज्ञानदृष्टि से देखता है तब शोक मोह रहित होता है । तथा कार्य कारणरूप सब जगत् मिला हुआ है कार्य प्रकट नाशवान् और कारण अव्यक्त अविनाशी है इन दोनों का सर्वस्वामी परमेश्वर धारण पोषण करता है। और भोग करने अर्थात् संसारी सुख भोग की तृष्णा रखने से असमर्थ वा अल्पशक्ति जीवात्मा सुखदुःखभागी होता है । और जैसे अत्यन्त बुभुक्षित अन्न को वा अति प्यास से व्याकुल जल को पाकर कृतकृत्य हो वैसे प्रकाशमय परमेश्वर को जान कर वह जिज्ञासु सब फांसीरूप दुःख बन्धनों से छूट जाता है । इत्यादि शास्त्रों में कहे दोनों आत्मा में भेद देखाने और परमेश्वर को सर्वाध्यक्ष ठहराने वाले प्रमाणों वा वचनों की संगति कैसे लगेगी ? तथा उपास्य उपासक भेद को सिद्ध करने वाले वेदादि के वाक्य आप के मत में कैसे संगत होंगे ? । यदि आप एक परमात्मा को मानें तो भी ये ही दोष हैं । यदि आप अद्वैतपक्ष मानें तो परमेश्वर जीव कैसे होगया ? क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता इस प्रकार अनेक विवाद प्रवृत्त होते हैं उन की समाप्ति होना दुस्तर है। और यदि किसी विशेष पक्ष का आश्रय नहीं किया सन्देह निवृत्ति के लिये ही प्रश्न हैं तो विवाद नहीं किन्तु स्वस्वामि भाव से दो आत्मा सब शिष्टलोगों को शास्त्र के अनुकूल अवश्य मानने चाहिये । क्रमशः ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ४ } तारीख १५ अकटूबर आश्विन संवत् १९४७ { अङ्क २

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

पं० नाथूराम शर्मा का शेष उत्तर ॥

मुक्तस्य पुनरावृत्तौ कारणं विना निवृत्तेरसम्भवस्तन्न युक्तम् । मुक्तिप्राप्तौ कारणवादेन भवितव्यं नतु निवृत्तौ । यथा देवदत्तः कस्मै चित्कार्याय ग्रामान्तरं गतस्तत्र कार्यमेव निमित्तं गमनस्य । सिद्धे तस्मिन् कार्ये स्वयमेव निवर्त्तते नात्र निमित्तकारणवादोऽपेक्ष्यते । यथा वा प्रक्षिप्तो लोष्टः स्वावधिं गत्वा स्वयमेव निवर्त्तते । अत्रापि निमित्तं नापेक्षते । एवमिहापि निमित्तं नापेक्षते ॥

नान्योपसर्पणे मुक्तोपभोगो निमित्ताभावादित्यत्र निमित्तं भोगस्य शरीरं सति शरीरे सुखदुःखे भुज्येते । भोगायतनं शरीरम् । नाशरीरस्य भोगः कश्चिदस्तीति प्रतिपादनाच्च तस्य शरीरस्याभावान्मुक्तस्य विषयजन्यसुखदुःखोपभोगो न भवति । नात्र प्रतिपाद्यते शरीरं विहाय मुक्तः पुनः कदापि शरीरं नादत्ते । यावन्मुक्तस्तावच्छरीररूपभोगनिमित्तस्यासत्त्वाद्भोगो न भवतीत्य

याति । ज्ञानिनो मुक्तिदशायामप्यन्येऽमुक्तास्तु शरीरधारित्वात्सुखदुःखे भुञ्जतएव । एवमनेनास्मत्पक्षे नास्ति विप्रतिपत्तिः ॥

कस्यनूनमित्यादिश्रुतौ चन्द्रादिलोकात्पुनरावृत्तानां पुनर्जन्मेति क्वापि मूले न प्रतीयते नच तत्रेदृशं किमपि पदमस्ति येनायमर्थो निस्सरेदिति । मुक्तेः पुनरावृत्तानां पुनर्जन्मेति तु मूलादेव निस्सरति—कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम । अत्रामृतानामिति निर्धारणे षष्ठी—अमृतानां मध्यान्नोऽस्मान्को मह्यां पृथिव्यां पुनरुत्पादयति येनाहं पितरं मातरं पुनर्दृशेयमिति । मूलेनैव स्पष्टार्थे सति टीकाभिः किं प्रयोजनम् ? । चन्द्रादिलोकगतानां च सृष्ट्यन्तर्गतत्वात्तत्रापि कस्यांचिद्योनौ जन्मैव स्वीकर्त्तव्यं तत्र पितृमातृसम्बन्धोपि स्फुटएव पुनः पितृमातृदर्शनकथनेन प्रतीयते मुक्तावेव पितृमातृदर्शनाभावस्तस्मान्मुक्तेः पुनरावृत्तौ कथनमेतत्सम्भवति नतु चन्द्रादिलोकात्पुनरावर्तने तत्र तु पृथिव्यामिव पितृमातृसम्बन्धो भवत्येवातो मुक्तानामेव पुनरावृत्तौ पृथिव्यां जन्मदर्शनायैव "कस्य नून" मित्यादिश्रुतिरिति विरम्यतेऽनल्पजल्पनात् ॥ भीमसेन शर्मा

भाषार्थः—मुक्ति से पुनरावृत्ति के विषय में जो कहा है कि कारण के विना निवृत्ति होना असम्भव है सो भी ठीक नहीं क्योंकि मुक्ति की प्राप्ति में कारण का खोज करने की अपेक्षा है निवृत्ति में नहीं। जैसे देवदत्त नामक पुरुष किसी कार्य की सिद्धि के लिये ग्रामान्तर को गया वहां जाने का निमित्त कार्य है। उस कार्य के सिद्ध होने पर स्वयमेव वहा से लौट आता है किन्तु उस के लौटने में निमित्त कारण का वाद अपेक्षित नहीं होता। अथवा जैसे मट्टी का ढेला आकाश में फेंका हुआ अपने वेग की अवधि (हद्द) तक पहुंचकर स्वयमेव लौट आता है यहां भी निवृत्ति का कारण अपेक्षित नहीं होता इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये कि मुक्ति से लौटने में निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं ॥

और (नान्योपसर्पणे०) इस सांख्यसूत्र में भोग का निमित्त शरीर माना गया है क्योंकि शरीर के वर्त्तमान रहने पर ही सुख दुःखों का भोग होता है और न्यायशास्त्र में कहा भी है कि भोग का स्थान शरीर है इसी कारण शरीर-रहित आत्मा को किसी प्रकार के सुख दुःख का भोग नहीं हो सकता। मुक्तिदशा में उस भोगस्थान शरीर के न रहने से मुक्त पुरुष को विषय सम्बन्धी सुख दुःख का भोग नहीं होता। अर्थात् इस सांख्यसूत्र में "मुक्त पुरुष फिर कभी शरीरधारण नहीं करता" ऐसा नहीं कहा है। जब पर्यन्त मुक्त होता है तब तक शरीर रूप भोग का निमित्त न रहने से भोग नहीं होता यह आशय सूत्र से निकलता है। और ज्ञानी पुरुष की मुक्तिदशा में भी, अन्य संसारी कार्यों में बद्ध पुरुष शरीरधारी होने से सुख दुःख का भोग करते ही हैं। इस प्रकार इस सांख्य के सूत्र से हमारे पक्ष में कुछ भी विरोध नहीं है॥

(कस्य नूनं०) इत्यादि वेद मन्त्र में चन्द्रादि लोक से पुनः लौट आने वालों का पुनर्जन्म होता है ऐसा अर्थ मूल में किसी पद से प्रतीत नहीं होता और न उस में ऐसा कोई पद है जिस से यह अभिप्राय निकले। और मुक्ति से लौटने वालों का पुनर्जन्म होता है यह तो मूल से ही निकलता है (कस्य नूनम्) यहां अमृत शब्द में निर्धारण में षष्ठी है मुक्तों के बीच सदा मुक्त परमात्मा मुक्तों में से हम को पृथिवी पर उत्पन्न करता है जिस से माता पिता को फिर देखें। जब मूल से स्पष्ट अर्थ निकलता है तो टीका का क्या प्रयोजन है ?। चन्द्रादि लोक भी सृष्टि के भीतर होने से उन लोकों में भी किसी योनि में जन्म ही मानना पड़ेगा ऐसा होने से माता पिता का दर्शन भी वहां होना स्पष्ट ही है क्योंकि आदि सृष्टि को छोड़ के माता पिता के विना किसी प्राणी का किसी लोक वा योनि में जन्म हो ही नहीं सकता फिर माता पिता का दर्शन न हो, ऐसे कथन से प्रतीत होता है कि मुक्ति में ही माता पिता के दर्शन का अभाव है इस कारण मुक्ति से फिर लौट कर पुनर्जन्म धारण करने में कहना सम्भव हो सकता है किन्तु चन्द्रादि लोक से लौटने वालों के लिये नहीं क्योंकि वहां तो पृथिवी के तुल्य पिता माता का सम्बन्ध होता ही है इस से मुक्तों के लौटने में पृथिवी पर जन्म दिखाने के लिये ही (कस्य नूनम्) इत्यादि मन्त्र कहा है इस से अब अधिक लिखना समाप्त करते हैं॥

प्रश्न—लाला सांईदास जी रेलवे दफ़्तर लाहोर वालों का—

परमेश्वर को हम प्रत्येक पदार्थ में चेतन हो वा जड़ परिपूर्ण प्रकाशमान किस प्रकार देखें। हर समय उस की ज्योति को सन्मुख देखें। हमें निश्चित हो जाये कि हमारे परम पिता स्नेहमयी माता सर्व ओर विराजमान हैं। साथ इस के यह भी जतलाना चाहिये कि ईश्वर क्या वस्तु है? और ईश्वर प्राप्ति का प्रत्यक्ष क्या चिन्ह है किस प्रकार जाना जाय कि अमुक पुरुष वा स्त्री को ईश्वर-प्राप्ति हुई है? ॥

उत्तर—यह प्रश्न कई महीनों से मेरे पास पड़ा था सावकाश न मिलने से उत्तर नहीं दिया गया। अवसर पाकर आज इस पर कुछ लिखना चाहता हूं। यद्यपि यह विषय ध्यानगम्य वा अकथनीय है वाणी के व्यवहार वा लेखन क्रिया से ठीक २ समाधान होना दुस्तर है तथापि लिखना वा कहना मुख्य साधनों का एक गौण साधन अवश्य है। जैसे वेदादि शास्त्रों को पढ़ने जानने का मुख्य साधन ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का यथावत् सेवन श्रेष्ठ आचार्य का मिलना अपना परिश्रम और विरोधी दोषों का छोड़ना आदि है पर उस का उपदेश करना कि ब्रह्मचर्य आश्रम इस २ प्रकार सेवन करना चाहिये उस की अमुक २ रीति है अमुक २ फल हैं इत्यादि उपदेश ब्रह्मचर्य आश्रम के सेवन में उस पुरुष के लिये अवश्य उपयोगी होगा जिस की वेदादिशास्त्र के पढ़ने जानने में पूरी निष्ठा वा उत्कण्ठा तथा शक्ति है वही उस का अधिकारी है। इसी प्रकार यहां भी ब्रह्मज्ञान की उत्कण्ठा जिस को पूरी है जिस के जन्मान्तर सम्बन्धी अच्छे संस्कार हैं जिस का अन्तःकरण छल कपटादि वाणरूप दोषों से नहीं विंधा वही सुनने का अधिकारी है। और उस को अवश्य परमेश्वर सम्बन्धी कथा सुनने का कुछ फल प्राप्त हो सकता है। इस विषय का वक्ता वा उपदेशक भी सब कोई नहीं हो सकता। इसी लिये कठोपनिषद् में कहा है कि:—

आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥

तात्पर्य यह है कि इस संसार में ब्रह्म का उपदेश करने, प्राप्त होने और जानने वाला पुरुष दुर्लभ है कोई ही अनेक जन्मों में किये तपआदि से कुछ ज्ञान पाता है जानने वालों में भी कोई कुछ उपदेश कर सकता है उपदेश के सुनने वालों में भी कोई थोड़ा समझता है इस प्रकार ये सभी दुर्लभ हैं। क्योंकि संसारी विषयों में लिप्त पुरुष ब्रह्म का उपदेश करे तो उस से ब्रह्मज्ञान किसी को होना असम्भव है। इस का प्रयोजन यह नहीं कि गृहाश्रम में रहने मात्र से मनुष्य लिप्त हो जाता हो और शिर मुंडा के गृहाश्रम छोड़ देने मात्र से कोई निर्लिप्त हो जावे किन्तु लिप्त होना न होना चित्त का धर्म है वह गृहाश्रम में भी निर्लिप्त हो सकता है और साधु होने पर भी नहीं हो सकता। राजा जनक भी एक गृहस्थ पुरुष था जिस के पास ज्ञानोपदेश सुनने को अनेक ऋषि तथा संन्यासी लोग आया करते थे यह इतिहासों से सिद्ध है। यद्यपि विरक्ताश्रम में मनुष्य अधिकांश निर्लिप्त सहज में हो सकता है तो भी समय के हेर फेर से आज कल इस से विपरीत दृष्टि पड़ते हैं कि विरक्ताश्रमस्थ पुरुष निर्लिप्त अत्यन्त कम हैं किन्तु गृहस्थों की अपेक्षा वे अधिक तर इन्द्रियों के विषय भोग स्वादादि में लिप्त हैं और गृहस्थ तो हैं हीं अभिप्राय यह है कि गृहस्थ भी उपदेष्टा हो सकता है। परन्तु कोई ही ऐसा मिल सकता है इस सब का अभिप्राय यह है कि इस विषय को सर्वोपरि कठिन सब विद्याओं वा कर्त्तव्यों की अन्तिम सीमा पर समझना चाहिये और जैसा कठिन काम होता है उस के लिये वैसे परिश्रम वा उपाय भी करने होते हैं अर्थात् इस की सिद्धि के लिये विशेष यत्न की अपेक्षा है॥

यद्यपि उपनिषदादि ग्रन्थों में प्रायः ब्रह्मज्ञान के ही साधन लिखे हैं तो भी यहां पुनर्वार पिष्टपेषणवत् कुछ थोड़ा लिखता हूं क्योंकि प्रश्न कर्त्ता का लेख है कि जड़ चेतन सम्पूर्ण वस्तुओं में हम परमेश्वर को कैसे देखें। इसी पर पहिले लिखता हूं। यहां परमेश्वर को सर्वत्र देखने के कथन का प्रयोजन विचारना समझना वा बुद्धि में आना है क्योंकि ईश्वर रूपरहित होने से भौतिक इन्द्रिय नेत्र से देखने में आ ही नहीं सकता। शिष्ट लोगों ने लिखा है कि—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥ १॥

अर्थः—मूल वेद और उपनिषदादि में जो परमेश्वर का गुणानुवाद करने वाले वाक्य हैं उन से उस के गुणों को सुनना चाहिये अर्थात् सदुपदेशक, विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ, विषयों में निर्लिप्त, गुरु से सुना करे और सुनने से हुए संस्कारों को युक्तियों अर्थात् वेदानुकूल तर्कों से अपने हृदय में दृढ़ निश्चित करे कि परमेश्वर ऐसा हो सकता है और ऐसा नहीं हो सकता अर्थात् ऐसा ही ठीक है इस में सन्देह नहीं यह दूसरा मनन है। अपने अन्तःकरण में ठीक मानकर निरन्तर नित्य नियम से श्रवण मनन के अनुसार उस का ध्यान करे यह निदिध्यासन कहाता है ये ही तीनों श्रवण मनन निदिध्यासन साक्षात्कार देखने के हेतु हैं। अर्थात् पहिला श्रवण दूसरा मनन तीसरा निदिध्यासन इन तीनों का ठीक २ होना ही ब्रह्मज्ञान का बड़ा कारण है।

परन्तु श्रवण मननादि के ठीक २ होसकने में इन्द्रियों की चञ्चलता छूटना, विषय भोग की तृष्णा की शिथिलता, इन्द्रियों को विषयों से रोकना, मूल कारण है इसी लिये—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

इत्यादि कठोपनिषद् में स्पष्ट दृष्टान्त सहित लिखा है कि जैसे लोक में घोड़ों से रथ खींचा जाता है वैसे ही इन्द्रियों से विषयरूप मार्ग में शरीर चलाया जाता और जैसे लगाम लगे हुए घोड़ों से सारथि रथ का चलाने वाला रथ को चलाता है वैसे ही मनरूप लगाम के साथ नथे हुए इन्द्रियों से बुद्धि नामक सारथि संसारी विषय सम्बन्धी व्यवहार में शरीररूप रथ को चलाता है। जब घोड़ेरूप इन्द्रियों से शरीररूप रथ विषयरूप मार्ग में भ्रमाया जाता है तब सुख दुःख भोग के आश्रय शरीर के इन्द्रियों वा मन सहित होने पर ही रथ का स्वामी जीवात्मा सुख दुःखरूप फल से युक्त होता है। तथा जैसे जिस रथ के स्वामी के वश में सारथि और सारथि के वश में घोड़े नहीं होते अर्थात् सारथि के आ-

धीन स्वामी और घोड़ों के आधीन जब सारथि होजाता है तब वह अपने अभीष्ट स्थान तक नहीं पहुंचता किन्तु जहां घोड़े ले जाते हैं वहीं गढ़े आदि में गिरता है वैसे ही जिस पुरुष के बुद्धिरूप सारथि के वश में घोड़ेरूप इन्द्रिय नहीं हैं वह आत्मा से विमुख विषयों में आसक्त जन सर्वोपद्रवरहित शान्त सुखस्वरूप ब्रह्म को नहीं प्राप्त होता किन्तु वार २ दुःखसागर में गोते खाया करता है । और जैसे अर्जुन के सारथि श्रीकृष्ण जी थे उसी प्रकार जिस रथ के स्वामी का सारथि विचारशील और स्वामी के कार्य में चित्त को लगाने वाला हो वह कठिन मार्ग को भी सुखपूर्वक व्यतीत करता और अभीष्टस्थान वा वस्तु को प्राप्त करा देता है वैसे ही जिस पुरुष को परमार्थ में विवेकशीला बुद्धि तथा सारथिरूप बुद्धि के आधीन लगाम की रस्सी के समान मन जिस के वश में है वह असंख्य उपद्रवों से युक्त संसाररूप कठिन मार्ग के भी पार होकर सब उपद्रवों से रहित शान्त आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है ।

अभिप्राय यह है कि ब्रह्म के दीख पड़ने न दीख पड़ने में पहिला मूल कारण इन्द्रिय हैं यदि सब इन्द्रिय अपने २ विषयों के भोग में यथावत् चतुर किये जावें तो आत्मा भी मन और इन्द्रियों के सहित विषयों की ओर झुका रहेगा और ऐसे ही प्रवाह से सदा ऊंच नीच योनियों में जन्म और कर्मानुकूल भोग होता रहेगा और इन्द्रियों को विषयों की ओर से शिथिल तथा वश में किये जावे तो उन इन्द्रियछिद्रों द्वारा बाहर निकलने वाली विचारशक्ति के रुकने से अन्तःकरण में प्रकाश बढ़ता है और वही विचारशक्ति आत्मज्ञान सम्बन्धी कार्य की सिद्धि में मुख्यसाधन बन जाती है उसी से श्रवण मनन निदिध्यासन भी यथावत् हो सकते हैं इसी से आत्मा सर्वत्र दीख सकता है ॥

यह विषय आन्तर्यविचार से सम्बन्ध रखता है किन्तु इन्द्रियों से विषयों के तुल्य उस का देखना नहीं बन सकता । आत्मा का सर्वत्र दीख पड़ना यही है कि प्रत्येक समय प्रत्येक स्थान में उसी विचार में जो मनुष्य लगा है उस के लिये ही यह कहा जावेगा कि वह ईश्वर को सब जगह देखता है ॥

सब महाशयों को ध्यान देने योग्य बात है कि यह विषय लिख देने सुन लेने वा पढ़ लेने मात्र से किसी प्रकार का उपकारी नहीं हो सकता किन्तु इस में लिखे अनुसार आचरण करने की आवश्यकता है । जो कोई चाहे कि मैं बातों

में ही सुन सुना के कार्यसिद्ध कर लूं यह असम्भव है। इसलिये प्रश्नकर्त्ता वा अन्य महाशय जो इस विषय के तत्त्व को कुछ जानना चाहें और जिन को पूरी उत्कण्ठा हो तो इस विषय में जो कुछ लिखा जाता है उस का नित्य नियम से सायङ्काल प्रातःकाल शुद्ध होकर एकान्त में बैठ कर कम से कम एक घण्टा विचार किया करें कि हम कौन हैं हमारा कर्त्तव्य क्या है? आज दिन वा रात्रि में धर्मविरुद्ध हम ने क्या २ किया जिस का शोक हम को दबाता है और वह विपरीत कर्म किन २ काम क्रोधादि के वश होने से हुआ उस का क्या २ उपाय करना चाहिये कि जिस से अधर्म से बचें। धर्मसम्बन्धी काम हम क्या २ करना चाहते थे वह आज क्यों नहीं हुआ उस का विरोधी शत्रु कौन २ है उस को किस २ उपाय से रोकना चाहिये आज आगे दिनभर में ऐसे २ उपाय करेंगे जिस से ऐसा २ विपरीत न हो और अनुकूल की बाधा न हो, धर्म क्या है अधर्म क्या है? हम को एक दिन यह शरीर और संसार के पदार्थ छोड़ने पड़ेंगे उस समय यही शोकसागर आकर दबावेगा और इसी शोकसमुद्र में डूबते हुए शरीर छोड़ेंगे कि हा! हमने अमुक २ अधर्म किया ऐसा न होता तो उत्तम था और अमुक २ धर्मसम्बन्धी अच्छा कर्म करना चाहते थे सो भी न कर पाया आज की कल करते २ समय आगया ईर्ष्या द्वेष मत्सरता काम क्रोध लोभ मोह के वश में फंसे रहे इत्यादि विचार वा शोक अन्त समय हम को करने पड़ेगा। और धर्मशास्त्रादि में लिखे ऐसे २ निम्नलिखित वचनों का सायङ्काल प्रातःकाल उठ कर पाठ और उन के अर्थ का स्मरण किया करें कि—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥१॥
एकएव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥२॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥३॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥४॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥५॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥६॥
अभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥७॥
तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्त्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥८॥
विविधाश्चैव सम्पीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् ।
करम्भवालुकातापान् कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥९॥
सम्भवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ।
शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥१०॥
असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ।
बन्धनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥११॥
बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।
द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥१२॥
जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥१३॥
एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव कर्मणा ।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥१४॥ इत्यादि

ये सब श्लोक मनुस्मृति के हैं । यहां उदाहरण मात्र लिख दिये गये किन्तु यह प्रयोजन नहीं है कि इतने ही श्लोकों का पाठ वा स्मरण करना चाहिये अर्थात् इसी प्रकार के जितने वचन संग्रह कर कण्ठस्थ करले वा जितना कर सकना य-

थावकाश सम्भव हो उन सब का बार २ नित्य अभ्यास किया करे । अब इन का भावार्थ संक्षेप से लिखा जाता है—

भावार्थः—मनुष्य को योग्य है कि दिन निकले से चार घड़ी पहिले जागे और उस समय ऊपर लिखे अनुसार अपने धर्म अधर्म हानि लाभ और सुख दुःख का विचार करे कि किस २ प्रकार मुझ को धर्म, सुख के हेतु धनादि पदार्थ और सुख प्राप्त हो और कैसे २ उपाय से अधर्म, अनर्थ और दुःख से बचूं । शरीर से क्या २ क्लेश मुझे भोगने पड़े वा पड़ते हैं और उन क्लेशों का कारण क्या है उन को किस प्रकार हटाना चाहिये कि जिस के दूर होने से फिर वे क्लेश न हों और वेद का तत्वार्थ अर्थात् वेद में जिस का मुख्यकर व्याख्यान है उस परमात्मा का भी चिन्तन वा ध्यान वेदादि शास्त्रों में वा विद्वानों की सेवा सत्सङ्गादि से सुने जाने प्रकारानुसार नित्य प्रातःकाल किया करे ॥ १ ॥ संसार के सब इष्ट मित्रादि शरीर के साथ ही शत्रु मित्र हैं शरीर छूटते ही सब जहां के तहां रह जाते हैं कोई साथी नहीं होता किन्तु एक धर्म ही मनुष्य का बड़ा मित्र है जो शरीर छूट जाने पर भी आत्मा के साथ जाता है और फिर उस को अच्छे सुखादि प्राप्त कराता है ॥ २ ॥ जन्मान्तर में सहायता देने के लिये माता, पिता, स्त्री, पुत्र वा कुटुम्बी कोई भी उपस्थित नहीं होते जो किसी प्रकार के दुःख से बचासकें किन्तु एक धर्म ही मनुष्य का साथी होता है ॥ ३ ॥ संसार में मनुष्य अकेला उत्पन्न होता तथा अकेला ही मरता है किन्तु जन्म मरण समय के दुःख हटाने में वा भोगने में कोई साथी नहीं होता अर्थात् अच्छे बुरे कर्म का फल सुख दुःख अकेला ही भोगता है ॥ ४ ॥ भाई बन्धु सब मरे हुए शरीर को पृथिवी वा जलादि में छोड़ के वा काष्ठ के तुल्य अग्नि में जला के पीछे लौट जाते हैं आत्मा के साथ कोई नहीं जाता केवल एक धर्म ही साथ जाता है । इस का अभिप्राय यह नहीं है कि आज कल के अनेक दम्भी स्वार्थी लोभी बनावटी साधुनामियों के तुल्य भाई बन्धुओं को छोड़ दें गृहाश्रम की निन्दा करें और अपने आप उन्हीं अधर्मादि में फंसें किन्तु तात्पर्य यह है कि भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र, इष्ट, मित्र, कुटुम्बी आदि सब से बड़ा धर्म को समझें स्त्री पुत्रादि के लिये भी अधर्म न करे देखो महाभारत उद्योगपर्व में लिखा है कि—

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥

एक मनुष्य जो अपने पर सब भार समझता और धनादि वस्तुओं का धर्म विरुद्ध छल कपटादि पापयुक्त कर्मों से संचय कर, स्त्री पुत्रादि का पेट भरता तथा उन को प्रसन्न करता है वही एक उस पाप कर्म के फल का भागी होता उसी कर्त्ता को दोष लगता है और खाने भोगने वाले स्त्री पुत्रादि सब छूट जाते हैं। इस लिये किसी की रक्षा वा पालन के लिये भी अधर्म न करना चाहिये और यह विचारना चाहिये कि जो धर्म से ही इन को सुख न मिला तो क्या अधर्म से मिल सकता है? कदापि नहीं। इस लिये धर्मपूर्वक, छल कपटादिरहित शुद्ध व्यवहार से धनादि का संचय कर स्त्री पुत्र कुटुम्बादि का पालन पोषण करना चाहिये ॥ ५ ॥

यदि कोई कहे कि संसार में अधर्म करते हुए भी अनेक प्राणी सुखी दीख पड़ते हैं और धर्मात्मा दुःखी भी हैं तो अधर्म से दुःख होना कैसे सिद्ध होगया? इस का उत्तर यह है कि प्रथम तो यह नियम नहीं है कि अधर्मी सब सुखी हों और धर्मात्मा सब दुःखी हों किन्तु प्रायः धर्मात्मा सुखी होंगे और अधर्मात्मा दुःखी निकलेंगे। सुख दुःख अन्तःकरण के धर्म हैं जिस के चित्त में लज्जा शङ्का भयादि नहीं वह सुखी है अधर्मी के मन में सदा लज्जा शङ्का भय बने रहते हैं इस से वह कदापि सुखी नहीं रह सकता। अनेक मनुष्य संसार में ऊपरी व्यवहार से सुखी दीख पड़ते हैं परन्तु वास्तव में वे सुखी नहीं हैं। लोक में धनादि पदार्थ भी सुख ही के हेतु नहीं हैं किन्तु उन से दुःख भी होता है। धनी गृहस्थ निर्वंशी और रोग से पीड़ित रहता हो तो उस की अपेक्षा मेहनती नीरोग, सन्तानवाला, निर्धन, गृहस्थ वास्तव में सुखी है अर्थात् चित्त से प्रसन्न है इत्यादि प्रकार सुख दुःख की व्यवस्था विलक्षण है। तथापि यदि कोई पापी सुखी हो और कोई धर्मात्मा दुःखी हो तो यह निश्चय रखना चाहिये कि जैसे गौ की बछिया तत्काल फलरूप दूध नहीं देने लगती वा जैसे वृक्ष का अङ्कुर कालान्तर में सेवा रक्षा करते २ फल देता है वैसे ही अधर्म तत्काल फलीभूत नहीं होता किन्तु धीरे २ इकट्ठा होता २ कर्त्ता की जड़ें काटता है। जैसे नौका में बोझा बढ़ कर एक साथ डूबती है वैसे ही अधर्म की गठरी भारी होते २ पापी डूबता है और वर्त्तमान में अधर्म करते समय भी जो सुख मिलता है वह संचित जन्मान्तर के कर्मों का फल है ॥ ६ ॥

पाप कर्मों के वार २ करने से उन २ नीच योनियों में पापी लोग अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ अन्धकारप्राय जहां कि कुछ नहीं दीख पड़ता ऐसे बड़े २ दुःखों के स्थान नरकों में पड़ते हैं। तलवार आदि शस्त्रों से काटे, चमड़े निकाले, बांधे, वा काटे जाते हैं अर्थात् बड़े २ पापियों के लिये ऐसे २ भयङ्कर राजदण्ड भी पहिले दिये जाते थे जिस से अधर्म का सर्वथा नाश हो ॥ ८ ॥ और दुःखस्थान नरकों में नाना प्रकार की पीड़ा देने के लिये नियत किये जाते थे जैसे पाले हुए काक वा उलूक पक्षियों से उन के मांस खोंट २ कर खवाना जिस से वे तड़फ २ दुःखी हों। अग्नि में तपाया वालु वा घड़े में तपाया तेल आदि में जलाना ये सब विशेष प्रकार से दुःख देने के कारण नरक कहाते हैं ॥ ९ ॥ दुःखप्राय विरुद्ध योनियों में बार २ उत्पन्न होना, शरदी गरमी से बाधा, नाना प्रकार के भय ॥१०॥ बार २ गर्भाशय में बसना, जन्म होते समय थोड़ी जगह योनि से पिच कर बड़े कष्ट से निकलना, मल मूत्र में लपटे रहना, अनेक बन्धनों में पड़कर कष्ट भोगना, भृत्य बन कर उन दुष्ट अधर्मियों की सेवा करना जो स्वार्थ-परता और अपने ऐश्वर्य के नशा में मत्त होकर किसी के परिश्रम को यथार्थ नहीं जान सकते ॥ ११ ॥ नानाप्रकार के आपत्कालों में भाई बन्धु और स्त्री पुत्रादि अत्यन्त प्रिय वा इष्ट मित्रादि के वियोग से हुए दुःख को सहना, परा-धीनता से हुए दुष्ट अधर्मी जनों के संग से होने वाले दुःख को सहना धनादि पदार्थों के इकट्ठे करने में अनेक क्लेश उठाना, फिर चोरादि द्वारा धनादि के नष्ट होने का दुःख उठाना, किन्हीं को मित्र बनाने में क्लेश उठाना, किसी के मित्र बनने से ही अन्य मत्सर के शत्रु बन जाने से भयसम्बन्धी दुःख होना ॥१२॥ आगे जिस के हटाने का कोई उपाय नहीं वह वृद्धावस्था आकर दबावेगी उस का क्लेश मनुष्य उसी दशा में जान पाता है, रोग सम्बन्धी पीड़ा का दुःख भी मनुष्य रोग दशा में ही जानता है नीरोग को रोगी के दुःख की पीड़ा नहीं पहुंचती इत्यादि अन्य भी नाना प्रकार के क्लेश मनुष्य के पीछे लगे हैं जो समय २ पर भोगने पड़ते हैं और एक मृत्युरूप ग्राह सब शरीरधारियों के पीछे ऐसा लगा है जिस को तीनों काल में न किसी ने जीता, न कोई जीत सकता और न जीत सकेगा वही सदा सब को जीतता है। यह भी एक बड़ा भारी दुःख है इस से ऊपर कोई दुःख नहीं, जब मनुष्य के चित्त में आता है कि हा ! मैं मर-

जाऊंगा तब कुछ नहीं सूझता एक साथ शोक सागर में डूब जाता है ॥१३॥ इस जीव की अपने कर्मों के अनुसार इत्यादि दशाओं को देखकर कि धर्मविरुद्ध चलने और अधर्म करने से मनुष्य को ऊपर लिखे अनुसार नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं ऐसा विचार अपने मन में दृढ़ कर के धर्म अधर्म दोनो से चित्त को हटाकर धर्म में ही चित्त को लगावे । इस का प्रयोजन यह है कि अधर्म से सम्बन्ध रखने वाले वा जिस में अधर्मांश मिला हो उस धर्म में भी मन लगाना छोड़ देवे जैसे छल कपटादिरहित सत्यवर्त्ताव करना धर्म है उस में किसी कर्म से प्राणियों की हिंसा वा प्राणियों को पीड़ा पहुंचती हो तो वह अधर्मांशयुक्त होगा उस को भी छोड़ देवे ॥ १४ ॥

इत्यादि प्रकार से प्रातःकाल उठ कर एकान्त में बैठ कर विचार करे चित्त का धर्म किसी प्रकार का विचार करना है सो वह जब ऐसे विचार में लगादिया जायगा तो अवश्य संसारी रागद्वेषसम्बन्धी वा लज्जा शंका भय सम्बन्धी व्यवहार को छोड़ देगा । एक प्रकार के विचार में लगना ही चित्त की एकाग्रता कहाती है । इस प्रकार के विचार से अन्तःकरण में ऐसी शान्ति उत्पन्न होगी कि जो सर्वोपरि सुख तक पहुंचा सकती है । उस सुख का वर्णन मनुष्य वाणी से नहीं कर सकता है । क्योंकि—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना ॥
नचाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ १ ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २ ॥

अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य योगाभ्यास की ओर परिश्रम नहीं करता उस की बुद्धि वा विचार ठीक नहीं रह सकता और जिस का विचार ठीक नहीं उस का मन शान्त नहीं हो सकता, जहां शान्ति नहीं वहां सुख भी कदापि नहीं मिल सकता इस से सिद्ध हुआ कि जहां शान्ति है वहीं सुख है ॥

शान्ति के होने से ज्ञानसम्बन्धी अर्थात् आत्मज्ञान का जो सुख होता है वही अत्यन्त सुख है वह केवल बुद्धि से ही जाना जाता है उस को अनुभव में लाने के लिये इन्द्रियों की शक्ति नहीं है जिस मनुष्य को वह ज्ञान होता है वह

विषयों को कुछ नहीं जान सकता अर्थात् विषयों की ओर से उस की वृत्ति हठकर आत्मज्ञान की ओर सर्वथा लग जाती है इस लिये वह ज्ञानी उसी आनन्द में मग्न हो जाता है। उस को प्रत्येक समय वही आनन्दसमुद्र की लहर घेरे रहती है उसी दशा में मनुष्य ब्रह्म को सर्वत्र परिपूर्ण प्रकाशमान देखता है। उस की जो दशा है वही जीवन्मुक्ति कहाती है। उस दशा को प्राप्त होने के लिये बड़े २ प्रबल उपाय करने आवश्यक हैं अनेक मनुष्य उपाय करने में ही पराजित हो जाते हैं। कठोपनिषद् में लिखा है कि ॥

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

जैसे छुरे की धार अतितीक्ष्ण होती है छुरे को पास रखने वाला थोड़ा भूला और झट छुरा से शरीर कट जाता है अथवा जैसे छुरे की धार पर चलना कठिन है

(शेष आगे)

(धर्मसभा फर्रुखाबाद का उत्तर भाग ३ पृष्ठ ११२ से आगे)

आगे इन की पौराणिक गपोड़ों की अनेक बातें हैं उन सब पर मैं नहीं लिखता क्योंकि हमारा मत वा सिद्धान्त वेद है उस पर किसी प्रकार का आक्षेप कोई करे वा दोष लगावे उस की निवृत्ति करना हमारा मुख्य काम है इस लिये जहां २ वेद मन्त्रों पर इन का लेख होगा वहीं मैं कुछ लिखूंगा ॥

धर्मसभा फर्रुखाबाद का मासिकपत्र भा० २ अङ्क १७—देखो सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ८६ पंक्ति १२ यजुर्वेद के अध्याय ३१ मे का मन्त्र ११ वां लिखा है और उस का अर्थ कैसा मनगढ़त का लिखा है कि जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि लेखकर्त्ता व्याकर्णशास्त्र से निपट ही शून्य था और तत्तुल्य ही उस के अनुगामी हैं वुह मन्त्र यह है यथाः—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाहूराजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳪ शूद्रो अजायतः॥

इस का अर्थ सत्यार्थप्रकाश में यों लिखा है कि ईश्वर निराकार है तों उस के मुख, भुजा, जङ्घा, पद कहां से आये जो ब्राह्मणादिकों को मुखादि से पैदा किया इत्यादि—

और जो ब्राह्मणादि मुखादि स्थानों से उत्पन्न होते तो ब्राह्मण की समस्त आकृति मुख के तुल्य गोलमोल होती और क्षत्री का शरीर भुजा के, वैश्य का जङ्घा

के, शूद्र का शरीर पद के आकार होना चाहिये था सो ऐसा नहीं दीख पड़ता इस कारण यह अर्थ ठीक है कि जो सब से गुणकर्मों में श्रेष्ठ हो वुह ब्राह्मण, जो भुजा से रक्षा करे वुह क्षत्री, जो जङ्घा के बल से सर्वत्र प्रवेश कर सब देशों में व्यापार करे वुह वैश्य, जो पद के सदृश निकृष्ट हो वुह शूद्र है ॥

यह सत्यार्थप्रकाश में लिखे मन्त्र (ब्राह्मणोस्य०) के अर्थ का अनुवाद गौरी-शङ्कर महात्मा ने किया है पाठक लोग ध्यान रक्खें कि इन को अनुवाद करने की भी योग्यता नहीं इसी कारण स्वामी जी कृत मन्त्रार्थ का अनुवाद ठीक नहीं कर सके यदि कहें कि हम ने भावार्थ लिखा है तो यह (इस का अर्थ सत्यार्थप्रकाश में यों लिखा है, क्यों लिखा ? किन्तु यह लिखना चाहिये था कि सत्यार्थ-प्रकाश में लिखे अर्थ का आशय लिखते हैं। अनुवाद करने में क्या २ भेद है सो यहां इस लिये नहीं दिखाता कि जिन महाशयों ने सत्यार्थप्रकाश देखा होगा वा देखेंगे वे स्वयमेव जानलेंगे। वुह, क्षत्री, इत्यादि अशुद्ध शब्द सत्यार्थप्रकाश में नहीं हैं किन्तु ये अनुवाद कर्त्ता की अशुद्धियां हैं। इस पर तर्क गौ० का देखिये

अब न्याई पुरुष गप्पाचार्य की विद्या औ छल बुद्धि का विचार करें कि कौन से व्याकर्ण औ निघंट्वादि वेद निर्णायक ग्रन्थों से यह अर्थ यथार्थ लिखा है, देखो इस मंत्र में (अजायतः औ कृतः) शब्द जो हैं इन से साफ़ प्रकट है कि मुखादि से ब्राह्मणादिकों को उत्पन्न किया है जैसा कि इसी वेद का यह अन्य मन्त्र है (चन्द्रमा मनसो जातः) इस मंत्र में भी जातः अजायतः शब्द हैं अर्थात् इन स्थानों से इन को पैदा किया तो जहां ऐसे २ सरल शब्द विद्यमान हैं औ उन का अर्थ यथार्थ न लिखा जाय तो क्लिष्ट शब्दों का क्या ठिकाना है। उसी अर्थ को ठीक २ पुकारते हैं तो उन के अनुयायी औ गप्पाचार्य जिसस्थान से उत्पन्न हुए हैं अर्थात् (योनिद्वारा) तो उन के शरीर तत्तुल्य ही होंगे। सो यह तो उन में पाये नहीं जाते हैं तो इस से सिद्ध होता है कि वे उस स्थान के व्यतिरिक्त किसी अन्य-स्थान से उत्पन्न हुए होंगे। हा हा हा !!!

उत्तर—फ़र्रुखाबाद के पत्र का यह ठीक २ अनुवाद कर दिया है अपनी ओर से किसी प्रकार की मिलावट इस में नहीं की गई है। हां एक दो पङ्क्ति बीच से छोड़ अवश्य दी हैं इस लिये पाठकों से प्रार्थना है कि इस अनुवाद में

जो अशुद्धि वा असङ्गति हों वे आर्य्यसिद्धान्त सम्पादक की न समझलें किन्तु धर्म-सभा सम्पादक की हैं ।

द्वितीय न्याई व्याकर्ण, निघंटुादि ग्रन्थों, अनायत:, इत्यादि शब्दों की अशुद्धियों पर भी अवश्य ध्यान देवें । न्याय शब्द संस्कृत तथा भाषा में भी अत्यन्त प्रसिद्ध है यदि थोड़ा भी संस्कृत का बोध होता तो न्यायी अवश्य लिखते। अब व्याकरण शब्द की दशा देखिये जिस के अहङ्कार से प्रतिपक्ष का खण्डन करने को कटिबद्ध हुए कि जो (कौन से व्याकर्ण से यह अर्थ यथार्थ लिखा है) इस लिखने से प्रतीत होता है । जो लोग जिस के भरोसे दूसरों को धमकाना चाहते हैं उस के वाचक मुख्य प्रचरित शब्द तक का जिन को ज्ञान नहीं उन की आगे क्या दशा होगी । यह शुद्ध शब्द व्याकरण है इस का अर्थ यह है कि जिस से शब्दों की व्याख्या की जाती हो कि शब्द क्या वस्तु है कैसे बनता कैसा ठीक वा कैसा विपरीत है इत्यादि । इस शुद्ध शब्द को अज्ञानान्धकार में पड़कर व्याकर्ण लिखा जिस का अर्थ होगया कि— खुला वा विस्तृत कान अर्थात् कर्ण शब्द कान का वाचक है वि आङ् उपसर्ग फैलाव वाचक है । और व्याकर्ण शब्द का अर्थ विशेष कर सुनना भी हो सकता है । इस में एक कहावत प्रसिद्ध है कि कोई पण्डितमानी अर्थात् नाम मात्र के पण्डित किसी सुबोध विद्यार्थी के पास आकर बोले कि (हम तुम्हारी परीच्छा करेंगे) विद्यार्थी ने उत्तर दिया कि (महाराज जी ! आप की परीच्छा तो परीच्छा शब्द से ही होगयी अर्थात् आप की योग्यता जान ली गयी कि आप निरक्षर भट्टाचार्य जी हैं कृपा रखिये) सो यही दशा यहां हुई कि व्याकरण से दूसरे की परीक्षा करने को उद्यत हुए उन की उसी शब्द के उच्चारण से तत्काल परीक्षा होगयी ! कि इन में इतनी योग्यता है । नीतिशास्त्रों में ठीक ही किसी कवि ने लिखा है कि-

दूरतः शोभते मूर्खो लम्बशाटपटावृतः ।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किञ्चिन्न भाषते ॥

लम्बे २ स्वच्छ वस्त्र पहिने हुए मूर्ख मनुष्य दूर से देखने में बहुत अच्छा जान पड़ता है परन्तु जब तक मुख से कुछ नहीं बोलता तभी तक उस की शोभा रहती है और जहां एक शब्द मुख से वा लेखनी द्वारा उस ने प्रकट किया उसी समय ढोल की पोल शीघ्र खुल जाती है फिर विद्यावान् लोग कदापि उस की

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ४ } तारीख १५ नवम्बर–कार्तिक संवत् १९४७ { अङ्क ३

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

धर्मसभा फर्रुखाबाद का उत्तर भाग २ अं० २ से आगे ॥

प्रतिष्ठा नहीं करते । (हां लालबुझक्कड़ के तुल्य मूर्खों में वह ढीठ भले ही पण्डित बने रहैं । क्योंकि अन्धों में काना ही राजा माना जाता है । जैसी वह चाहे वैसी चल जाती है। परन्तु हमें यह आश्चर्य है कि आज कल धर्मसभा में कोई २ पं० अच्छे भी हैं जो संस्कृत के कान पूंछ को जानते हैं और वह मासिकपत्र भी उन के दृष्टिगोचर अवश्य होता होगा पर वे ऐसा अनर्थ होते देखकर चुपचाप रहते हैं! उन को चाहिये कि सुबोध सम्पादक बनावें जिस से विद्वानों में धर्म-सभा की हँसी न हो । और देखिये (अज्ञायतः) इस पद को लौट २ कर दोवार अशुद्ध लिखा है यह छापे की भूल नहीं है छापे की होती तो कहीं शुद्ध भी होता। इस से सिद्ध है कि सम्पादक को इतना ज्ञान नहीं कि प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा न होने से क्रियापद आख्यात से सुआदि विभक्ति नहीं आतीं । उन्हों ने समझा होगा कि संस्कृत बनने की मुख्य दो ही रीति हैं कि अन्त में अनुस्वार वा विसर्जनीय लगा देने चाहिये ऐसे ही अधकचरे लोग भवतिः पचतिः आदि भी बोला करते हैं । अब ये तो सामान्य बातें रहीं वेद के मूलमन्त्र को देखिये

कि जिस की नकल पुस्तक देखकर ठीक २ कर देने से शुद्ध हो सकता था इस में विशेष बोध की भी आवश्यकता नहीं थी। पहिले मन्त्र का पाठ ज्यों का त्यों मैंने भी अशुद्ध ही लिख दिया था अब शुद्ध मन्त्र लिखा जाता है ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

अब विचारशील महाशय इस मन्त्र के शुद्ध अशुद्ध पदों को दोनों प्रकार का पाठ मिलाकर समझ लेंगे आगे आशय पर ध्यान दें मन्त्र का अर्थ तो वही ठीक है जो सत्यार्थप्रकाश में श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज ने लिखा है उस को यहां बार २ लिखना पुनरुक्त है उसका आशय यही है कि परमेश्वर ने ब्राह्मणादि वर्णों को उन २ के गुणकर्मस्वभावों के अनुसार नियत किया अर्थात् पूर्वकल्प में किये कर्मों के अनुसार जिन के संस्कार सर्वोत्तम विद्यादि गुणग्राही देखे उन को ब्राह्मण तथा इसी प्रकार क्षत्रियादि को बनाया यही अभिप्राय भगवद्गीता के आगे लिखे श्लोक से निकलता है:—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥

मया सत्तात्मकेन परमात्मना गुणकर्माणि पुरस्कृत्य चातुर्वर्ण्यं सर्गारम्भे सृष्टमित्यायाति ॥

अर्थात् परमेश्वर ने गुणकर्मों के अनुसार चारों वर्ण को सृष्टि के आरम्भ में बनाया। यदि वेद का यही अभिप्राय होता जो इन लोगों ने लिखा है तो क्या भगवद्गीता बनाने वाले को यह प्रकट नहीं हुआ जो लिखता कि मुखादि से ब्राह्मणादि उत्पन्न हुए ॥

अब इस प्रसङ्ग में हम को यह विचार अवश्य लिखना है कि परमेश्वर से ब्राह्मणादि वर्ण कैसे उत्पन्न हुए। धर्मसभा सम्पादक ने केवल अपना सिद्धान्त यह लिख दिया है कि उस ने मुखादि से ब्राह्मणादिकों को उत्पन्न किया है परन्तु यह नहीं लिखा कि उस के मुखादि अवयव कैसे हैं ?। मनुष्य के से वा पशु आदि कैसे ? और मुखादि से किस प्रकार बनाया क्या ब्राह्मणादि उस के

पेट में रहे जो मुखादि द्वारा बाहर निकाल दिये अथवा मट्टी से घटादि वा दूध से दही आदि बनने के तुल्य उस ने अपने मुखादि से ब्राह्मणादि को बना दिया। ऐसा मानो तो उस के मुखादिरूप ब्राह्मणादि बन गये? तो क्या उस के मुखादि अवयव नहीं रहे बिना मुख के रह गया?। यदि पेट से मुखादि द्वारा निकाले तो अब क्यों नहीं वैसे उत्पन्न होते? अर्थात् इस से विरुद्ध योनि द्वारा क्यों उत्पन्न होते हैं? क्या परमेश्वर अपने कर्त्तव्य से भिन्न नियम जगत् में चलाता है? क्या यह सम्भव है कि हमारा शिक्षक अपना आचरण अन्य करे हम को कुछ और ही शिखावे और हम वैसा करने लगें कदापि नहीं किन्तु शिक्षक की बड़ी शिक्षा यही है कि जो शिष्यों को शिखावे उस का आचरण आप प्रथम कर के दिखावे। तभी शिष्य लोग मान लेते हैं। यही प्रबन्ध आज तक प्रवृत्त है कि शिक्षक जैसे आचरण करता है वैसे शिष्य भी करते हैं यदि शिक्षक के आचरण और कर्त्तव्य में भेद हो तो शिष्य लोग आचरण को पकड़ते हैं किन्तु कहने पर नहीं चलते। भगवद्गीता में भी स्पष्ट लिखा है कि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

जिस २ कर्म को श्रेष्ठ पुरुष (जिस को बहुतसा समुदाय श्रेष्ठ मान लेता है वही श्रेष्ठ है) करता है उसी २ काम को उस के अनुयायी अन्य मनुष्य भी करते हैं। वह पुरुष जिस २ को प्रमाण मान लेता है उसी के अनुसार अन्य लोग वर्त्ताव करते हैं इसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में सब का शिक्षक श्रेष्ठ गुरु एक परमात्मा ही था उस ने यदि ब्राह्मणादि को अपने मुखादि से उत्पन्न किया होता तो आगे भी वैसा क्रम चलाता। इस में कोई यह सन्देह उठा सकता है कि अब तो स्त्रीपुरुष के मैथुन हुए पीछे योनि द्वारा ब्राह्मणादि उत्पन्न होते हैं वैसे क्या परमेश्वर ने भी कर के दिखाया? यदि ऐसा मानो तो तुम्हारे पक्ष में भी परमेश्वर का साकार होना सिद्ध हो जायगा?। इस का उत्तर हम यह देते हैं कि यह जो प्रत्यक्ष में चराचर संसार दीख पड़ता है वह सब स्त्री पुरुष दोनों के अंश से बना है सृष्टि के आरम्भ में पुरुष जीवात्मा और स्त्री प्रकृति इन दोनों के संयोग वा मैथुन से सब संसार उत्पन्न हुआ है। उस संयोग का

आदि कारण परमेश्वर है इसी लिये वह जगत्कर्ता कहाता है देखो मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है कि–

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

उस परमात्माने सृष्टि के आरम्भ में ध्यान किया कि कर्त्तव्य क्या है ? तो सृष्टि रचने का संकल्प हुआ तब रचनप्रकार का चिन्तन करके अपने नाशवान् अर्थात् अदृश्य कार्यरूप में आने तथा फिर बिगड़ने वाले प्रकृतिरूप कारण शरीर से अनेक प्रकार की प्रजा रचने की इच्छा से प्रथम स्त्री प्रधान स्त्रीलिङ्ग प्रकृति को उत्पन्न होने योग्य किया कि जिस से उस में से कुछ उत्पन्न होसके (जैसे बीज बोने के लिये प्रथम स्त्रीरूप पृथिवी को ठीक करते हैं जब खेत ठीक हो जाता है तब बीज का विचार करते हैं क्योंकि खेत के ठीक होने में देर होती है कि जिस प्रकार उस में बोया बीज अच्छा और शीघ्र उत्पन्न हो और बीज तो प्रायः ठीक ही रहता है) इस कारण परमेश्वर ने पहिले खेतरूप प्रकृति को ठीक किया (यहां संसार में भी इसी कारण से स्त्री ऋतुमती होती अर्थात् उस के लाल जल उत्पन्न होता है तब ही उस में उत्पत्ति का सामर्थ्य आता है) इसी प्रकार परमेश्वर ने प्रकृति को पहिले जल के गुण कोमलता वा शीतलता युक्त किया इस से पहिले निरतेज शुष्क थी जब प्रकृति ठीक हुई तो उस में बीज वा जीव को छोड़ा। बीज और जीव शब्द का तात्पर्य मिलता ही है कहीं २ कुछ थोड़ा भेद पड़ेगा। एक अक्षर के इधर उधर लौट फेर कर देने से बीज से जीव और जीव से बीज बन जाता है। अर्थात् यहां बीज शब्द का आशय जीव है कि उस प्रकृतिरूप स्त्री में पुरुषरूप बीज वा जीव छोड़ा। यहीं से कार्य सृष्टि का मुख्यकर आरम्भ है यहां भी स्त्री पुरुष अर्थात् प्रकृति और जीव का संयोग वा मैथुन दिखलाया है। मैथुनसे सन्तानों की उत्पति होती है सो वहां मनु० में भी (तदण्डमभवत्०) में सन्तानरूप ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति दिखाई गयी है इस के व्याख्यान का यहां अवसर नहीं किन्तु मनु० * भाष्य में देखना। मनु० के सृष्टि प्रसङ्ग में स्त्री पुरुष का सम्बन्ध और भी देखिये–

* अब मनुभाष्य बनगया देखो (मानवध० पृष्ठ १६–२३) भी० श० ८। ८। ९५

लाला साईंदास जी लाहोर का भाग ४ पृ० ३० पं० १० से आगे उत्तर ॥

इस लिये उस को विशेष ध्यान उसी पर रखना भूल वा प्रमाद न करना चाहिये इसी प्रकार यहां भी मुक्ति की ओर झुकने वाला प्रतिक्षण उसी ध्यान में रहे उसी के साधन वा उपाय प्रति दिन करता रहे क्योंकि विद्वान् लोग इस मार्ग को ऐसा कठिन कहते हैं कि जैसा छुरा की तीक्ष्ण धार पर चलना कठिन है वैसा ही इस मार्ग में चलना है इस लिये मनुष्य को बड़ा भारी प्रबल उपाय करना चाहिये ऐसा करते २ कालान्तर में उस ज्ञानी की यह दशा होजाती है कि-

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ॥
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी ॥ १ ॥

यह श्लोक योगशास्त्र के व्यासभाष्य का है। अर्थः-शय्या खट्वादि पर लेटा वा आसन पर बैठा वा मार्ग में चलता हुआ इत्यादि सब दशाओं में सब कुतर्क वा संदेहों को छोड़ कर संसार के दुःखों के नाश होने का ध्यान रखता हुआ मुक्त पुरुष आनन्दभोग का अधिकारी होता है। वहो सर्वत्र परमेश्वर को देखता है। अब इस अधिक लिखने से (परमेश्वर को सब पदार्थों में परिपूर्ण कैसे देखें) इस का उत्तर हो गया।

(हर समय उस की ज्योति को सन्मुख देखें) इस का भी उत्तर विचार पूर्वक देखो तो उसी के साथ आगया तथापि कुछ लिखता हूं। इस ब्रह्मज्ञान के लिये योगाभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है। साधारण अर्थात् जिस मनुष्य का चित्त पूर्व जन्मों के अच्छे संस्कार न होने से स्थिर नहीं साधारण प्रकार से जिस के वश में मन नहीं ठहरता उस को प्रथम क्रियायोग करने का आरम्भ करना चाहिये-

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥

यह योगशास्त्र के साधन पाद का पहिला सूत्र है। १-आशय यह है कि मनुष्य को सब से पहिले तप करना चाहिये अर्थात् इन्द्रियों और शरीर को तपाना चाहिये बिना तपाये बांस का दण्डा भी नहीं लचता इसी प्रकार तप किये बिना हृदय में नम्रता नहीं आती और न अहङ्काररूप ऐंठ छूटती है। तप का अर्थ व्यास जी ने स्वयमेव योगभाष्य में लिखा है कि-

तपो द्वन्द्वसहनं जिघत्सापिपासे शीतोष्णे इत्यादि।

अर्थात् भूख प्यास गरमी शरदी मान अपमान निन्दास्तुति हानि लाभ सुख दुःखादि परस्पर विरुद्ध विषयों को सहना तप कहाता है इन के कारण अपने

कर्त्तव्य योगाभ्यास में बाधा न पड़े प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नान शौच सन्ध्या अग्निहोत्रादि करे सर्वथा आलस्य छोड़ देवे गर्मी शरदी आदि को सहता रहे सन्ध्यादि के फल भोग की इच्छा न रक्खे। वेदोक्त कर्म के सेवन वा योगाभ्यास करने में जितना क्लेश सहना पड़े वह सभी तप है। चान्द्रायणादि व्रत जो धर्मशास्त्रों में लिखे हैं ये भी तप कहाते हैं किन्तु ऊपर को लटकनादि इत्यादि तप नहीं है ॥

२–द्वितीय स्वाध्याय है जिस में नित्य नियम से प्रातःकाल सायंकाल ओंकार का वा गायत्री मन्त्र (तत्सवितु०) आदि का जप करे और जिन में साक्षात् परमात्मा का गुणानुवाद ही ऐसे वेदमन्त्रों का पाठ और वेदान्त शास्त्र उपनिषदों का विचार वा श्रवण किया करे और उन में लिखे अभिप्रायों को अपने मन में पुन विचार कर धारण करे। ३–तीसरा ईश्वर प्रणिधान–परम गुरु परमात्मा में सब कर्मों का अर्पण करे कि सब वस्तुओं का स्वामी वही परमेश्वर है सब धन पुत्र ऐश्वर्य राज्यादि उसी के हैं मैं इन सब का स्वामी वा अहंकारी नहीं किन्तु उस की आज्ञानुसार इन पदार्थों से यथावत् उपयोग लेने वा परोपकार करने के लिये उस ने मुझको अपना भृत्य बनाया है यदि उस की आज्ञा से विरुद्ध अधर्म सम्बन्ध में इन धनादि को लगाऊंगा तो वह मुझे दण्ड देगा इस प्रकार सब कर्मों का सदा समर्पण रक्खे किन्तु चित्त में ऐसा कभी अभिमान न करे कि यह काम मैं ने ऐसा उत्तम किया जिस से मैं प्रशंसित हूं। ये पदार्थ मेरे पास हैं वा मेरे हैं मैं धनी वा राजा हूं मैं ऐसा बड़ा अधिकारी हूं मेरी आज्ञा सब मानते हैं। इत्यादि प्रकार का अभिमान छोड़ देना समर्पण कहाता है। इस प्रकार के क्रियायोग का नित्य सेवन करने से चित्त की स्थिरता होती है तब वह मनुष्य ध्यानादि करने योग्य होता है। योगाभ्यास करते २ जब उस के स्वभाव वा शरीर में ऐसा लक्षण हो कि–

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥

शरीर में हलकापन, नीरोगता, लालच का त्याग, आकृति की प्रसन्नता, वाणी की कोमलता और स्पष्ट पृथक् वर्णों का उच्चारण, शरीर में सुगन्ध अर्थात् उसके शरीर से विना किसी अन्य पदार्थ के स्वभाव से जो गन्ध निकले वह आप को और अन्य लोगों को अच्छा जान पड़े और मलमूत्र थोड़ा निकले तो यह योग प्रवृत्ति पहिली कही जाती है अर्थात् जिस में ऐसे लक्षण हों वह जानो योगाभ्यास रूप मार्ग में चल गया यह पहिला लक्षण है। ऐसा होते २ जब ध्यान बँधने लगे

और ध्यान में आगे लिखे लक्षण दीख पड़ें तब ब्रह्मज्ञान का पूर्वरूप समझना चाहिये ॥

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरस्सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

जब कोहरा, धुआं, सूर्य, अग्नि, आंधी, जुगनू, बिजुली, मणि और चन्द्रमा का सा स्वरूप योगी को ध्यान में सन्मुख दीख पड़े तो जानिये कि मुझ को अब ब्रह्मज्ञान होगा । अर्थात् ध्यान में ऐसे रूप दीख पड़ना ब्रह्मज्ञान होने के पूर्वरूप हैं ऐसे रूप दीख पड़ने पर भी उसी प्रकार बराबर ध्यान का अभ्यास करता जावे तो उस को ब्रह्मज्योति का ठीक २ अनुभव हो जायगा । और उस की ज्योति को सन्मुख प्रत्यक्ष देखने का अधिकारी बन जाय गा ॥

इसी ऊपर के लेख में इस (हमें निश्चित होजाये कि हमारे परम पिता स्नेहमयी माता सर्व ओर विराजमान हैं) का भी उत्तर आगया इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नही । पूर्व के लेख को ध्यान देकर देखना चाहिये ॥

अब इस का विचार करना चाहिये कि (ईश्वर क्या वस्तु है) यह विषय ऐसा नहीं है जिस को सब कोई जान सकता वा कह सकता हो । यदि यह विषय सहज होता इस के जानने वाले भी बहुत होते । जो आज तक बड़े २ विद्वान् ऋषि महर्षि तपस्वी होते आये और अब भी बड़े २ विद्वान् वर्त्तमान हैं जो घण्टां तक एक २ बात पर बकने को समर्थ हैं बड़े २ नैयायिक पड़े हैं जिन के बड़े २ लम्बे तर्क हैं वे लोग बुद्धि को बहुत कुछ दौड़ाते हैं जब उन की बुद्धि अत्यन्त आश्चर्य तथा सूक्ष्म विषय तक नहीं पहुंचती और उन को कुछ नहीं दीख पड़ता तो वे नास्तिक हो जाते हैं । जब ऐसा हाल है तो साधारण मनुष्यों का क्या सामर्थ्य है जो उस के ज्ञान की ओर एक पग भी रख सकते हों । और जहां तक वाणी से कहना वा लेखनी से लिख सकना सम्भव है उतना अनेक विद्वानों वा दीर्घदर्शी महात्माओं ने अनेक भाषाओं में लिख रक्खा है उस से यदि ज्ञान होना सम्भव होता अर्थात् किसी के लेख को देख कर वा किसी के मुख से सुन कर परमेश्वर का ज्ञान हो सकना सम्भव होता तो असंख्य मनुष्य उन्हीं पुस्तकों के पढ़ने वा वैसे उपदेश सुनने वाले ज्ञानी हो गये होते सो इस प्रकार ज्ञान नहीं हो सकता किन्तु यह ज्ञान बिना अपने कर्म वा आचरण सुधरे कदापि नहीं हो सकता और जब किसी को कुछ बोध हुआ तो इसी उपाय से हुआ है । उस कर्त्तव्य की रीति मैं पूर्व लिख चुका हूं । तथापि वह क्या वस्तु है ? इस का थोड़ा उत्तर लिखता हूं—

वह कर्मेन्द्रिय वा ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं अर्थात् किसी इन्द्रिय से उस को नहीं जान सकते इस कहने से सिद्ध होता है कि हम लोग जिन संसारी विषयों को जानते जनाते हैं उन से वह पृथक् है। अर्थात् उस का कोई स्थूल रूप नहीं। जो लिख कर वा किसी अन्य प्रकार दिखाया जावे तब यही लिखना वा कहना बन सकता है कि सत्–विद्यमान स्वरूप उस का कभी अभाव नहीं होता सदा एक रस बना रहता है। वह चित्–चेतन स्वरूप है कभी प्रमादी वा जड़ वस्तु के स्वभाव वाला नहीं होता। वह आनन्द–मय है उस में कभी दुःख का लेश नहीं रहता वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है कभी किसी कर्म वा कर्मफल के बन्धन में नहीं आता वह परमेश्वर है सब ईश्वर नाम समर्थों का समर्थ है उस से अधिक शक्ति वा सामर्थ्य वाला कोई नहीं वह राजाओं का भी राजा है उस का राजा कोई नहीं वह सब विद्वान् गुरुओं का गुरु है उस का अन्य गुरु कोई नहीं। वा यों कहिये कि जिस का गुरु कोई नहीं जो सब का गुरु है जिस का स्वामी कोई नहीं जो सब का स्वामी है जिस का पिता वा उत्पादक कोई नहीं जो सब का पिता वा उत्पादक है जिस के तुल्य वा अधिक ऐश्वर्य वाला कोई नहीं जो सर्वोपरि ऐश्वर्य वाला है। और यह वार्त्ता सत्य भी है कि संसार में जितनी नदियां प्रवाहरूप से बह रही हैं उन को यद्यपि सर्वसाधारणों ने नहीं देखा कि वे कौन २ कहां २ से निकली हैं परन्तु यह सभी जानते और मानते हैं कि ये सभी नदियां किसी स्थान से निकली हैं किन्तु यह कोई नहीं मान सकता कि इन के निकलने की कोई अवधि नहीं इसी प्रकार अनहद्द चली आती हैं यह मानना सब विचारशीलों के सामने जैसे असम्भव तथा मिथ्या है वैसे ही संसार में विद्यादि व्यवहारों का नदीरूप प्रवाह चल रहा है। देवदत्त का गुरु यज्ञदत्त उस का विश्वामित्र उस का चैत्र और चैत्र का मैत्र इत्यादि प्रकार गुरु होते आये बिना गुरु वा शिक्षक के कोई विद्वान् वा शिक्षित न हुआ न हो सकता है। ये सब गुरु शिष्य विद्यारूप नदी के मार्ग हैं इन में हो कर बहती जाती हैं परन्तु उस के निकलने की अवधि कोई अवश्य माननी पड़ती है कि जिस से इस विद्या नदी के प्रवाह का आरम्भ हुआ वही प्रथम गुरु है उस का गुरु वा शिक्षक कोई नहीं। इसी प्रकार पिता पुत्र सम्बन्ध है यह भी प्रवाह पहिले से ऐसा ही चला आता है इस में प्रथम एक पिता ऐसा मानना पड़ता है जिस का पिता कोई न हो वहीं से पितापुत्र के व्यवहार का प्रवाह चला हो। इसी प्रकार संसार के सब व्यवहार जहां से चले हैं जो सब का आदि है वही परमेश्वर है उसी को विद्वानों ने परमेश्वर माना है वह कोई ऐसा वस्तु नहीं जिस को लकड़ी तुल्य पकड़ कर प्रत्यक्ष दिखाया जावे। वह एक

चेतन स्वरूप है सर्वत्र विराजमान है एक परमाणु भी उस से बिना पृथक् नहीं, वह सब पदार्थों में सदा अपने सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है परन्तु जब कभी किसी जिज्ञासु को उस का ज्ञान होता है तब उसी के अन्तःकरण में प्राप्त होता है। जैसे अत्यन्त प्यासे को जल मिल जाने से सुख और शान्ति आ जाती है उसी प्रकार जब किसी को परमेश्वर का ज्ञान हो जाता है तब शान्त वा आनन्दस्वरूप सब प्रकार की तृष्णा से रहित हो जाता है परन्तु अन्य को वह ऐसा नहीं बता सकता कि मुझ को परमेश्वर का ज्ञान इस प्रकार होगया वह ब्रह्म ऐसा है । क्योंकि उस की कोई प्रकार की जब आकृति नहीं तो कैसे बता सकता है? किन्तु परमेश्वर कोई है वा नहीं । है तो कहां वा कैसा है इत्यादि प्रकार की शङ्का उस की मिट जाती है और वह जिज्ञासु तथा अधिकारी शिष्य को ऐसे इशारे बता सकता है तथा ऐसे ध्यानादि शिखा सकता है जिस से अन्य को भी ज्ञान हो जाना सम्भव है । इस विषय को विद्वानों ने भी अति कठिन लिखा वा माना है कि जिन की बुद्धि अति सूक्ष्म है ॥

और ईश्वरप्राप्ति का प्रत्यक्ष क्या चिन्ह है?—किस प्रकार जाना जाय कि अमुक पुरुष वा स्त्री को ईश्वरप्राप्ति हुई है ? ॥

इस अन्तिम वाक्य का उत्तर देने में मेरी भी बुद्धि चकराती है । ईश्वर प्राप्ति का जो कुछ प्रत्यक्ष चिन्ह है वह हमारे लिखने और कहने से बाहर है तो न मैं उस चिन्ह को लिख सकता और न मेरे लिखने से प्रश्नकर्त्तादि कोई जान सकता है । जिस पुरुष ने नाममात्र भी कभी किसी इन्द्रिय से अनुभव नहीं किया वह उस विषय के जानने वाले का प्रत्यक्ष चिन्ह देखकर भी नहीं जान सकता कि यह इस का चिन्ह है और यह पुरुष ऐसा है । शास्त्र में कही वार्त्ता तो है ही परन्तु लोक में भी जनश्रुति—कहावत प्रसिद्ध है कि—"खग जाने खग ही की भाषा" प्रथम तो ब्रह्मज्ञानी पुरुष का सब किसी को दर्शन ही दुर्लभ है कभी किसी का विशेष प्रारब्ध का उदय हुआ और दर्शन हो गया तो उस को पहचान सकना कठिन है । ज्ञानी पुरुष यदि संसारी मनुष्य को मिल जावे तो वह अन्य बातों में उस को टाल देता है वह असली बात की ओर इस लिये नहीं आने देता कि वह अनधिकारी समझता है उपदेश अनधिकारी में फलीभूत नहीं हो सकता इस लिखने से मेरा अभिप्राय यह है कि सब कोई ज्ञानी की परीक्षा नहीं कर सकता किन्तु जो उस मार्ग की ओर कुछ झुका है अर्थात् जो अधिकारी है वह ज्ञानी को पहचान सकता है इस लिये मनुष्य को पहिले अधिकारी बनना चाहिये जैसा उपाय पूर्व लिखा है वैसा करना चाहिये । उपाय करने से जब अधिकारी बनेगा तो जैसे चोर को चोर अकस्मात् मिल जाता और शीघ्र पहचान लेता है वैसे ही संसार में ज्ञानी उस को मिल जायंगे और वह ज्ञानी को तत्काल जान लेगा । उस को चिन्ह भी तत्काल दीख पड़ेंगे ॥

यद्यपि ज्ञानकाण्ड में ज्ञानी के चिन्ह बहुत कुछ लिखे हैं पर तो भी कुछ उदाहरणमात्र लिख देता हूं—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ १ ॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ २ ॥

भा०—ये दोनों श्लोक सामवेदीय तलवकारोपनिषद् के हैं इन में ज्ञानी के स्वरूप का वर्णन किया है-ज्ञानी कहता वा मानता है कि-(अहम्) मैं ब्रह्म को (सुवेद) अच्छे प्रकार जानता हूं (इति) ऐसा (न, मन्ये) नहीं मानता और (न, वेद) मैं नहीं जानता (इति) ऐसा भी (नो) नहीं मानता (वेद, च) पर जानता हूं कि ब्रह्म है (नः) हम जानने वालों में से (यः) जो कोई (तत्) मेरे उक्त वचन को (वेद) जानता है वह (तत्) उस ब्रह्म को (वेद) जानता है । वह मेरा वचन यही है कि (नो, न, वेद, इति, वेद, च) जानता तो हूं पर मैं नहीं जानता ऐसा नहीं और मैं अच्छे प्रकार जानता हूं ऐसा भी नहीं मानता । मैं ब्रह्म को अच्छे प्रकार जानता हूं ऐसा नहीं मानता इस कथन से अहङ्कार की निवृत्ति की और उस का जानना विलक्षण अकथनीय होना दिखाया है कि ज्ञानी भी नहीं कह सकता कि मैं अच्छे प्रकार जानता हूं क्योंकि ऐसा कहे तो उस को अच्छे प्रकार जानना अन्य को बताना चाहिये सो असम्भव है । यदि कोई कह सके तो उस का अकथनीय वाणी के व्यापार से परे मानना व्यर्थ हो जावे । यदि कोई अहंकार पूर्वक कहे कि मैं जानता हूं तो वह नहीं जानता क्योंकि अहङ्कार पांच अविद्यादि क्लेशों में अस्मितानाम से प्रसिद्ध है और ज्ञान का मुख्य आशय यही है कि अहङ्कार रहित हो कर अपने शान्त स्वरूप में अवस्थित होना । यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि जब मैं जानता हूं ऐसा विचार रखना उचित नहीं तो वह नहीं जानता होगा इस लिये कहा कि मैं नहीं जानता यह भी नहीं मानता किन्तु जानता भी हूं । जान कर भी अच्छे प्रकार जानता वा नहीं जानता ऐसा नहीं मानता, यही जानता हूं । अर्थात् अच्छा जानता वा नहीं जानता इन दोनों का ठीक कहना नहीं बनता क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान केवल अनुभव ग्राह्य है । ब्रह्मज्ञान विषय में शङ्का न रहने से मैं नहीं जानता यह नहीं कह सकता । जैसे इन्द्रिय और विषय के संयोग से होने वाले अकथनीय ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं ऐसे ही ब्रह्मज्ञान भी कथन करने योग्य नहीं है इसी लिये उस ब्रह्म में चक्षु, वाणी और मन का संकल्प विकल्प नहीं पहुंचता ॥ १ ॥

भा०—अतिसूक्ष्मदृष्टि से पूर्व मन्त्र का सारांश इस अगले मन्त्र में कहा है (यस्य) जिस प्रबल तत्वज्ञान को प्राप्त विद्वान् का मत–सिद्धान्त वा निश्चय ऐसा है कि ब्रह्म (अमतम्) मन से नहीं जाना जाता (तस्य) उस को ब्रह्म का (मतम्) ज्ञान है अर्थात् उस ने ब्रह्म को ठीक जान लिया है क्योंकि चक्षुआदि साधनों से सिद्ध न होने वाले ज्ञान का साधन मन, रूपादि विषयक ज्ञान के साधन चक्षु आदि के तुल्य है । जैसे चक्षु से देखता वैसे मन से जानता है । और (यस्य) जिस का मत है कि मनआदि से ब्रह्म (मतम्) जाना जाता है (न, स, वेद) वह उस को नहीं जानता इसी लिये (विजानताम्) ब्रह्मज्ञान के अभिमानियों को (अविज्ञातम्) ब्रह्म का ज्ञान ही नहीं होता और जो (अविजानताम्) ब्रह्मज्ञान के अभिमान को छोड़ चुके उन को (विज्ञातम्) अच्छे प्रकार ब्रह्म का ज्ञान है । इस का मुख्य अभिप्राय यही है कि जिस को लोग ब्रह्मज्ञानी मानते वा जो स्वयं अपने को ज्ञानी मानता है वह ज्ञानी नहीं । ब्रह्मज्ञानी को सर्वसाधारण लोग नहीं जान सकते और वह भी सब को नहीं जता सकता कि मैं ऐसा हूं किन्तु उस को वे ही योगी जन जान सकते हैं कि जिन्हों ने वह मार्ग देखा है । ब्रह्मज्ञानी संसारी साधारण मनुष्यों से घृणा करता है । उस में यही अलौकिकता वा विलक्षणता वा आश्चर्य है ॥

अब इस विषय के उपसंहार में पाठकजनों को इस सब के सारांश पर ध्यान देना चाहिये कि जिस में कामासक्ति न हो, जिस को स्त्री सम्बन्धी सुख से पूर्ण वैराग्य होगया हो, जिस को क्रोध न हो, कोई कितना ही चिड़ाना चाहे पर उस के अगाध गम्भीराशय में क्षोभ न हो, जिसको लोभ न हो, चक्रवर्ति राज्य का मिलना भी जिस को कर्तव्य से न डिगा सके, जिस को मोह न हो, अज्ञानान्धकार में न पड़ा हो, सत् असत् के विचार कर सकने का जिस को सामर्थ्य हो, जिस को मद अहङ्कार न हो, धैर्यवान्, सहनशील, जितेन्द्रिय, स्वार्थ की ओर कभी ध्यान न देने वाला, किसी से जिस को द्वेष, वैर, विरोध न हो उस के साथ भले ही वैर वा द्वेष कोई करे, जिस को किसी पदार्थ के साथ ईर्ष्या वा मत्सरता न हो उस के साथ भले ही कोई करे, जिस को किसी पदार्थ के साथ ममता न हो, जिस को प्रतिष्ठा की अभिलाषा न हो, जिस को किसी समय किसी प्रकार शोक आकर न दबावे, जो प्रति समय अपने भीतरी विचार के आनन्द में मग्न रहे, जिस को शीत उष्ण, हानि लाभ, निन्दा स्तुति, सुख दु:ख, भूख प्यास, शत्रु मित्र आदि द्वन्द्व न सतावें, जो दोनों में एकरस बना रहे अपना मान्य होने में हर्षित न हो और कोई अपमान वा अनादर करे तो जिस को सन्ताप न हो इत्यादि गुण जिस में हों उस को जानो कि वह ब्रह्मज्ञानी है यही इस का स्वरूप है । उपनिषद् में लिखा है कि—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च ।
व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति ॥ १ ॥

स्त्री पुत्रादि कुटुम्ब की इच्छा, धनैश्वर्य की प्राप्ति की इच्छा और लोक में प्रशंसा प्रतिष्ठा की इच्छा इन तीनों को छोड़कर ब्रह्मज्ञानी एकान्त में बसता और भिक्षा मांग कर निर्वाह करता है। इस का विशेष व्याख्यान ऊपर आगया है। यही ब्रह्मज्ञानी का स्वरूप है जिस स्त्री वा पुरुष में ऐसे लक्षण हों वह जानो ब्रह्मज्ञानी है ॥

(महामोहविद्रावण का उत्तर भाग २ अङ्क ८ से आगे)

पाठक महाशयों को स्मरण होगा कि महामोहविद्रावण का उत्तर पहिले अधिक कर छपता रहा पीछे अनेक अन्य उत्तर चल जाने से इस के छपने का अवकाश न मिलने से बन्द रहा। वेद ब्राह्मण के विषय में आर्यसिद्धान्त के प्रथम द्वितीय भागों में अच्छे प्रकार सिद्ध कर दिखाया गया है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं किन्तु वेद के व्याख्यान हैं। यद्यपि इस विषय पर अब कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि इस पर अनेक प्रकार के तर्क वितर्क छप चुके हैं। इसी कारण मेरा विचार था कि अब इस विषय पर न लिखूंगा किन्तु इस महामोह के अन्य प्रकरण पर लिखूंगा परन्तु जब यह शोचा गया कि व्याकरण वा मीमांसा के प्रमाणों से ब्राह्मणों को वेद ठहराया है इस का उत्तर न देने से वाराणसी के पं० विद्वान् समझेंगे वा अन्य कोई कहेगा कि इस का उत्तर देना सहज नहीं समझा वा कोई प्रमाण ठीक न मिला होगा। वा इस विषय को उत्तरदाता न जानते होंगे। परन्तु व्याकरण विषय का उत्तर मैं इस लिये भी नहीं लिखना चाहता था कि इस को सर्वसाधारण लोग नहीं समझ सकें गे और इस पत्र में ऐसे विषय छपने चाहिये जो सर्वसाधारण के उपयोगी हों भाषामात्र जानने वालों के भी समझ में आवें अब उक्त कारण से मैं व्याकरणविषय का भी उत्तर यहां लिखता हूं। जहां तक सम्भव होगा मैं अवश्य इस विषय को सुगम करके लिखूंगा पाठक लोग ध्यान देकर देखें ॥

यत्तु—अन्यत्र महाभाष्ये केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च तत्र लौकिकास्तावत् (गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण) इति, वैदिकाः खल्वपि [शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्ज्जे त्वा। अग्निमीळे पुरोहितम्। अग्न आयाहि वीतये] इति। यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसञ्ज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणम-

दात्। अतएव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसञ्ज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि ॥

इत्याह मुण्डी, तत्तु तस्य व्यामोहमात्रम्। नहि भाष्यकारेण वैदिकोदाहरणतया ब्राह्मणवाक्यानि न धृतानीत्येतावता तेषामवेदत्वसिद्धिरितरथा संहितास्थानामपीतरेषामनिर्दिष्टवाक्यानां वेदत्वानुपपत्तेः। नच संहितास्वादिममन्त्रधारणात्तद्घटितानान्तासां साकल्येन वेदत्वसिद्धिरिति शङ्क्यम्। सर्वस्यापि ब्राह्मणस्य तत्तत्संहितोत्तरभागात्मकतया संहितामन्त्रधारणेन विशिष्टायाः सब्राह्मणोपनिषत्कायाः संहितायाः प्रदर्शनस्य सिद्धत्वात्। नच तथा सति ब्राह्मणेषु संहितामन्त्रादिव्यवहार्य्यत्वप्रसङ्गः। वेदपदव्यवहार्यत्वस्य तदुभयसाधारण्येपि प्रामाणिकानां संहितादिपदव्यवहार्यत्वस्य भागविशेषे एव प्रसिद्धेः। शक्तेः प्रामाणिकव्यवहारैकसमधिगम्यत्वात्। नह्यष्टाध्यायी व्याकरणमिति स्त्रीप्रत्ययाः (तद्धिता) इति व्यपदिश्यन्त, तद्धिता वा (स्त्रीप्रत्यया) इति यच्च स प्राह पुण्यपूरुषः—

किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते कुतः तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् ॥

इति, सोऽस्य महामोहः शुक्लयजुः संहितायां चतुर्विंशतितमेऽध्याये (उक्ताः सञ्चरा एताः शुनासीरीयाः) इत्यादिसंहितास्वपि पशूनां पक्षिणाञ्च नामोत्कीर्तनस्याऽसकृद्दर्शनात्। तद्यथा—सर्प, मृग, व्याघ्र, सिंह, मूषक, कश, नकुल, न्यङ्कु, पृषत्, कुलुङ्गर्ष्य, रुरु, परस्वत, गौरमृग, महिष, गवयोष्ट्र, घृणि, भृङ्ग, मेष, मर्कट, मनुष्य, राजरोहिद्दृष्य, क्रमि, कीट, नीलङ्गु, मयूल, हलिक्ष्ण, वृष, दंश, रक्त, सर्पाज, शकुन्ति, शृगाल, पिद्द,

कर्कट, चक्रवाक, सेधावृक, हस्ति, करर, शिशुमार, मकर, मत्स्य, मंडूक, भेकी, कुलीपय, नक्र, पृदाक्वलज, प्लव, कूर्म, गोधा, कशर्न्त, मान्थालाजगर, शका, वार्ध्रीनस, सृमर, खङ्ग, कृष्णश्वा, कर्णगर्द्दभ, तरक्षु, शूकर, कृकलासादीनाम्परःशतानाम्पशुजातीयानाम्, मशक, करण्डामर्वीक, कपिञ्जल, कलविङ्क, तित्तिरि, हंस, वलाका, क्रुञ्च, मद्गु, चक्रवाक, कुक्कुटोलूक, चाष, मयूर, कपोत, लावक, कौलीक, मोषादी, कुलाका पारुष्ण, पारावत, लीचाप, अल्वहोरात्र, दात्यूह, कालकण्ठ, सुपर्णवर्तिका, क्षिप्रश्येन, वक, धुक्षा, कलविङ्क, पुष्करसादी, वलाका, शार्ग, सृजय, शयाण्डक, शार्याती, वाहस, दार्विदा, दार्वाघाट, सुपिलीक, जहका, कोकिला, कुण्डृणाची, गोलत्तिका, पिप्यकादीनां परःशतानाम्पक्षिणाञ्च संहितास्वाम्नानात्। नदयस्प्रतारकः स्वतन्त्रः इति॥

(महामोह विद्रावण के उक्त संस्कृत का भाषानुवाद)–

और जो "महाभाष्य में लिखा है कि व्याकरण में किन शब्दों का व्याख्यान वा शिक्षा की गई है? इस का उत्तर महाभाष्यकार ने स्वयमेव दिया है कि लौकिक ऋषि आदि मनुष्यकृत पुस्तकादि के व्यवहार में आने वाले और वैदिक ईश्वरीय विद्या वेद में आने वाले शब्दों की शिक्षा व्याकरण में है। उनमें लौकिक शब्द–जैसे–गौ घोड़ा पुरुष हाथी पक्षी मृग और ब्राह्मण इत्यादि और (शन्नोदेवी०) इत्यादि वैदिक शब्द हैं। यदि महाभाष्यकार को ब्राह्मण पुस्तकों की भी वेदसंज्ञा अभीष्ट होती तो वैदिक उदाहरणों में उन के भी उदाहरण देते इस से ज्ञात होता है कि महाभाष्यकार ने मंत्रभाग ही की वेद संज्ञा मान कर वैदिक शब्दों में चारों वेद के पहिले २ मंत्रों की प्रतीकों के उदाहरण दिये हैं" यह मुखडी (दयानन्द) ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में कहा है सो उस का अज्ञानमात्र है क्योंकि महाभाष्यकार ने वैदिक उदाहरण होने कर के ब्राह्मण वाक्य नहीं धरे इतने से यदि ब्राह्मणग्रन्थों का वेद न होना सिद्ध हो जावे तो संहिता के भी जो२ वाक्य महाभाष्यकार ने नहीं लिखे वे भी वेद न रहेंगे। यदि कोई शंका करे कि संहिताओं के पहिले मन्त्र धरने से उस पुस्तक के अन्य सब वाक्यों का भी वेद होना सिद्ध है ब्राह्मणों में से तो किसी वाक्य के न पढ़ने से वे कैसे वेद हो सकते हैं? सो यह ठीक नहीं क्योंकि ब्राह्मण के सब २ संहिता के उत्तर खण्ड-

रूप होने से संहिता मंत्र के पढ़ने से ब्राह्मण और उपनिषद् सहित संहिता का उदाहरण देना सिद्ध है। ऐसा होने पर ब्राह्मणों में संहिता वा मंत्रादि व्यवहार प्राप्त हो सो नहीं क्योंकि वेदपद का व्यवहार होना यद्यपि मंत्र ब्राह्मण दोनों में बराबर है तो भी प्रामाणिक लोगों के सिद्धान्त से संहितादि पद के व्यवहार होने को भाग विशेष में ही प्रसिद्धि है। क्योंकि शब्दों की वाच्य वाचक शक्ति प्रामाणिक लोगों के व्यवहार से ही निश्चित होती है किन्तु अष्टाध्यायी व्याकरण है इस से तद्धित संज्ञक प्रत्ययों में स्त्री प्रत्ययों की वा स्त्री प्रत्ययों में तद्धित प्रत्ययों की गणना नहीं हो सकती। यहां व्याकरण पद सामान्य है जो तद्धित वा स्त्री प्रत्यय दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है और स्त्री प्रत्यय वा तद्धित विशेष पद हैं जो एक दूसरे के वाचक नहीं होते। और उस राक्षस (दयानन्द) ने कहा है कि—"किन्तु जो लौकिक उदाहरण गौ घोड़ा आदि कहे हैं वे ब्राह्मणग्रन्थों में ही अधिक कर घटते हैं क्योंकि उन में ऐसे शब्दों के पाठ का व्यवहार दृष्टि-गोचर होता है" सो यह उस का महा अज्ञान है क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद की संहिता के चौवीशवें अध्याय में (नक्ताः मञ्जराः शुनासीरीयाः) इत्यादि प्रकार से संहिताओं में भी पशुओं और पक्षियों के नाम बार २ कहे दीख पड़ते हैं जैसे—सर्प, मृग, व्याघ्र, सिंह, मूषक, इत्यादि सैकड़ों पशु विशेष जातियों के नाम और मशक, कपिञ्जल, तित्तिरि, हंस, बलाका इत्यादि सैकड़ों पक्षियों के नाम संहिताओं में आने से यह प्रतारक—ठग—दयानन्द शास्त्र से विरुद्ध चलने वाला स्वतन्त्र है॥

पूर्वं तावत्संस्कृतभाषयोत्तरमारभामहे—महामोहविद्रावणायोद्यतमानेषु प्रविष्टएव महामोहो नतु विद्रुतः। यदा स्वस्मिन्नेव प्रविष्टस्तदाऽन्यस्य विद्रावणमसम्भवम्। महाभाष्यकारेण वैदिकोदाहरणेषु संहिताचतुष्टयस्यैवादिममन्त्रप्रतीकानि धृतानि नतु ब्राह्मणग्रन्थानामेतावता सिद्धं ब्राह्मणानामवेदत्वम्। अग्निमीडे पुरोहितमिति। अत्र मन्त्रप्रतीकाग्रे योऽसाविति शब्दः स प्रकारवाचकस्तेनेत्यादिप्रकारकाणि—इत्येवमादीनि वाक्यानि वैदिकशब्दरूपाणि सन्तीति समधिगम्यते विद्वद्भिः। इतरथा संहितास्थानामपीतरेषामनिर्दिष्टवाक्यानां वेदत्वानुपपत्तेरिति शब्दसमुदायस्तु काशीस्थपण्डितानां बुद्धेः स्थवीयस्त्वं स्पष्टं दर्शयति। यद्येवं प्रकारवाचकेषु प्रभृत्यादिशब्देषु पठितेष्वपि निर्दिष्टस्यैव ग्रहणं स्यात्तर्ह्येधस्पर्धादीनां धातुत्वे महती बाधा

प्रसज्येत नह्येधस्पर्धादयो भूवादिसूत्रे निर्दिश्यन्ते। नहि संज्ञाकरणाय शब्दमात्रान् कश्चित्पठितुं समर्थः। ब्राह्मणग्रन्थास्संहितानां भागात्मका इति तु विद्वदनुभवप्रतिकूलमेव प्रत्येतव्यम् । नतु ब्राह्मणानि संहितानां भागाइति केन चिच्छास्त्रकारेणोच्यते न च क्वापीश्वर आज्ञापयति ब्राह्मणानि संहितानां भागात्मकानीति। नहि केनचिद्विदुषा कस्माच्चिन्मूलपुस्तकात्प्रामाण्ये गृह्यमाणे व्याख्यानस्य ग्रहणं कथमपि कर्त्तुं शक्यम् । एवं चेदष्टाध्याय्याः केनचिद् गृह्यमाणवचनेन महाभाष्यस्यापि ग्रहणं प्रसज्येत। संहितासु च भागा अध्यायादिरूपेण प्रसिद्धाः। यजुःसंहितायामादिमा विंशतिरध्यायाः पूर्वो भागः। अन्त्याश्च विंशतिरध्याया उत्तरो भागः सर्ववेदाशयज्ञेषु प्रसिद्धः। नचैवं सति शतपथाख्यं ब्राह्मणमुत्तरो भागो यजुःसंहिताया भवितुमर्हति। यदि स्यात् तर्हि यजुःसम्बन्धिन्यः कतिपयाः कठाद्युपनिषदः कस्मिन्भागे परिगणिता भविष्यन्ति ?। यदि सर्वासामुपनिषदामप्युत्तरभागत्वं कल्प्येत तर्हि तस्मिन्नुत्तरे कठादीनामितरेतरपूर्वोत्तरविभागे को नियमः स्यात्। अनियमे सम्बन्धाप्रतीतेरव्यवस्था स्यात्। यानि पुस्तकानि भागात्मकानि विद्वद्भिर्निर्मीयन्ते तत्रैकं कञ्चिद्विषयं प्राधान्येन व्याख्यातुमङ्गीकृत्य तस्यैकैकोऽवान्तरभेद एकैकस्मिन् भागे क्रमेण व्याख्यायते। तद्वदिहापि वाराणसीस्थविद्वद्भिरुपपादयितव्यम्। कोसौ विषयः सामान्येन मन्त्रब्राह्मणोपनिषत्सु व्याख्यातुमङ्गीकृतस्तस्य कः कोवान्तरभेदस्तत्र तत्र वर्णितइति सर्वं स्पष्टमेव प्रतिपादनीयम्। नोचेदुत्तरभागत्वप्रतिपादनान्मौनैर्भाव्यम्। एवं सति सर्वमिदं प्रत्युक्तमिति विजानीत ॥

यच्चोक्तं गौरश्वइत्यादीन्यपि पशुपक्षिनामानि यजुःसंहितायां दृष्टचराणि तदेतत्स्वस्यैव पादे कुठारप्रहारः। यदि भवन्मते लौकिकोदाहरणतया दत्ता अपि शब्दा वैदिकाएव तर्हि लौकिकोदाहरणं

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ४ | तारीख १५ दिसम्बर—मार्गशीर्ष संवत् १९४७ | अङ्क ४

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत तृतीय अङ्क से आगे महामोहवि॰ का उत्तर

किमिति युष्माभिः प्रतिपादनीयम् । अहोमहदाश्चर्यमेतत्स्वल्काश्यां विद्यया प्रकाशवत्यामपीदृशोऽज्ञानान्धकारः प्रवृत्त इदमेव कारणं भारतवर्षस्याधमतरदशायाः । प्राज्ञाः पश्यत ! गौरश्वइत्यादिशब्दा असमस्ता असंहिता गद्यरूपा महाभाष्यकृता परिपठिताः । तस्यैतत्प्रयोजनं लौकिकाः शब्दा गद्यपद्योभयरूपाः संहिता असंहिताश्च भवन्ति । वैदिकास्तु संहितारूपाश्छन्दोनाम्ना प्रसिद्धा "अग्निमीळे पुरोहित"मित्यादिप्रकारकाएव । यदा च—अग्निम् । ईडे । पुरःऽहितम् । इत्यादिप्रकारेण पदादिरूपैः परिणमिता नैव तदा वैदिका अपितु लौकिकाएव । अतएव वेदस्य पदानीति सति भेदे षष्ठ्यर्थ उपपद्यते । नायमाशयो महाभाष्यकर्ता तत्र भवतां दयादिस्वामिनां वास्ति यद्गौरश्वादयः शब्दा वेदे नायान्ति लोकएवायान्ति । एवं सति स्पष्टं विरोधः स्यात् । आयं गौः पृश्निरक्रमीदित्यादिवेदमन्त्रेषु गवादयः शब्दाः सन्त्येव । तेन ज्ञायते नायमाशयोस्ति तयोरपितु पद्यछन्दोनाम्ना प्रसिद्धाः संहितारूपा

वैदिकास्तद्भिन्ना अवैदिका लौकिका उभयरूपाः। वैदिकानामादिमान्युदाहरणानि दत्तानि तेन स्पष्टमनुमीयते येषां पुस्तकानामादिमानि वाक्यानि वैदिकशब्दोदाहरणतया महाभाष्यकारेण धृतानि तान्येव वेदाः। गौरश्वइत्यादिपाठो लौकिकोदाहरणतया प्रतिपादितोऽसंहितः शब्दसमुदायो वेदमन्त्रपदपाठेपि घटतेऽतस्तानपि लौकिकशब्दानेव मन्यन्ते। पदपाठस्यापि व्याख्यानरूपत्वात्। इदमपि कारणं व्याख्यानरूपाणां ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वाभावेऽस्ति। यदीदं तात्पर्यं वाराणसीस्था महामोह० कर्त्तारस्तत्त्वतो बुध्येरंस्तदा पूर्वोक्तान् कुतर्कान् नोत्थापयेयुः। सिद्धोऽनेन तेषां पक्षपातः॥

भाषार्थः--ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में श्री स्वामीदयानन्दसरस्वती जी महाराज ने (केषां शब्दानां०) इत्यादि व्याकरण महाभाष्य का प्रमाण लिखा है जिस का तात्पर्य यह है कि छन्दोबद्ध (अग्निमीळे पुरोहितम्) इत्यादि शब्द वेदसम्बन्धी और गाय घोड़ा आदि लोक के शब्द इन दोनों का व्याकरण में व्याख्यान वा उपदेश किया गया है यदि ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेद होना महाभाष्यकार को इष्ट होता तो वैदिक शब्दों में ब्राह्मणग्रन्थों का भी उदाहरण देते इस से महाभाष्यकार ने मन्त्रसंहितामात्र की ही और उन्हीं चार संहिताओं की जिन के उदाहरण दिये हैं वेदसंज्ञा की है वा मानी है यह स्वामी जी के लेख का अभिप्राय है इस पर काशी के पण्डित महामोहविद्रावण कर्त्ता कहते हैं कि महाभाष्यकार ने वैदिक उदाहरणों के साथ ब्राह्मणग्रन्थों के उदाहरण नहीं धरे इतने से यदि उन के वेद होने में बाधा पड़े तो संहिता के अन्य वाक्य जो उदाहरण में नहीं धरे गये वे भी वेद नहीं रहेंगे॥

विद्वान् वा बुद्धिमानों के समीप विचार का स्थान है कि यह तर्क कैसा तुच्छ है। मैं कहता हूं कि जैसे उदाहरण में नहीं धरे हुए ब्राह्मणवाक्यों की भी वेदसंज्ञा काशी वालों के सिद्धान्त से होती है तो वेद से सम्बन्ध रखने वाले सायणादि के व्याख्यानों और कल्पसूत्र वा व्याकरण निरुक्तादि की वेदसंज्ञा क्यों नहीं होती? इस के लिये काशी के पण्डितों के समीप क्या प्रमाण वा तर्क है?। ऐसे २ निर्बल तर्क करने से प्रतीत होता है कि महामोह—बड़े अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिये प्रवृत्त हुए काशीस्थ पण्डितों में भी अज्ञानान्धकार घुसा ही है किन्तु दूर नहीं हुआ। जब उन में अज्ञानान्धकार लगा है तो अन्य का कैसे दूर कर सकते हैं?। महाभाष्यकार ने वेदसम्बन्धी उदाहरणों

में चार संहिताओं के ही पहिले मंत्रों की प्रतीकें धरी हैं किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों की नहीं इस से ब्राह्मणों का वेद न होना सिद्ध है (अग्निमीड़े पुरोहितमिति) यहां मन्त्र की प्रतीक के आगे जो यह इति शब्द पढ़ा है वह प्रकारवाचक है जिस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इत्यादि प्रकार के वाक्य वैदिक शब्दरूप उस २ संहिता के समुदायरूप पुस्तक में हैं इस को विद्वान् लोग जानते हैं। और "अन्यथा संहिता के भी उदाहरण में न आये हुए अन्य वाक्य वेद न होंगे" यह वाक्यावली काशीस्थ पण्डितों की बुद्धि का अतिस्थूल होना स्पष्ट दिखाती है। यदि ऐसा हो कि प्रकारवाचक अन्य प्रभृति वा आदि शब्द आदि के पढ़ने से भी लिखे मात्र का ही ग्रहण हो तो एध और स्पर्धआदि शब्दों की धातु संज्ञा होने में बड़ी भारी बाधा पड़े क्योंकि भूआदि सूत्र में एधस्पर्धादि पढ़े नहीं हैं और यह भी नहीं हो सकता कि संज्ञा करने के लिये एधादि सब को एकस्थान वा सूत्र में कोई पढ़ दे। तथा ब्राह्मणग्रन्थ संहिताओं के भागरूप हैं यह विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध ही जानना चाहिये, संहिताओं के भाग ब्राह्मण हैं यह किसी शास्त्रकार ने भी नहीं कहा है और न कहीं परमेश्वर आज्ञा देता कि ब्राह्मणग्रन्थ संहिताओं के भाग हैं। और किसी मूल पुस्तक से प्रमाण लेने की अपेक्षा में व्याख्यान ग्रन्थ का प्रमाण करना किसी विद्वान् को किसी प्रकार उचित नहीं है यदि ऐसा कोई करे तो अष्टाध्यायी के किसी ग्रहण करने योग्य वचन से महाभाष्य का भी ग्रहण प्राप्त होवे। इत्यादि अनेक दोष संहिता के उदाहरण में ब्राह्मणों का भी ग्रहण होना समझने से आते हैं। संहिताओं में भी अध्यायादि रूप भाग हैं ही। यजुर्वेद संहिता में पहिले २० बीश अध्याय पूर्वभाग और पिछले बीश अध्याय उत्तर भाग रूप हैं सो उत्तर भाग कहने से उसी पुस्तक के उत्तरार्द्ध का ग्रहण हो सकता है यह सब वेदवेत्ताओं को प्रसिद्ध है ऐसा होने से शतपथ नामक ब्राह्मण यजुर्वेद की संहिता का उत्तर भाग कदापि नहीं हो सकता यदि ऐसा हो तो यजुर्वेद के साथ सम्बन्ध रखने वाली कठादि उपनिषद् किस भाग में गिनी जावेंगी ?। यदि सब उपनिषद् भी उत्तर भाग में गिन ली जावें तो उस उत्तर भाग में ब्राह्मण और कठादि उपनिषदों में परस्पर पूर्वोत्तर विभाग करने में क्या नियम हो ? यदि कहो कि नियम करने की क्या आवश्यकता है तो सम्बन्ध का निश्चय न हो सकने से (कि किस के साथ किस का क्या सम्बन्ध है) अव्यवस्था होगी। लोक में भी जिन पुस्तकों को विद्वान् लोग कई भाग में बनाते हैं उन में किसी एक विषय को मुख्य कर व्याख्या करना स्वीकार कर के उस के एक २ भीतरी भेद को एक २ भाग में क्रम से व्याख्या की जाती है। उसी प्रकार यह भी काशी के विद्वानों को सिद्ध करना चाहिये कि वह एक विषय कौन है जो

सामान्य कर मन्त्र ब्राह्मण और उपनिषदों में वर्णन करना स्वीकार किया गया उस का कौन २ अवान्तर भेद उन २ मन्त्रादि में वर्णन किया है स्पष्ट सिद्ध करना चाहिये यदि ऐसा न करें तो ब्राह्मणों को उत्तर भाग कहने से मौन हो जावें ॥

और जो कहा है कि गाय घोड़ा इत्यादि पशु पक्षियों के नाम यजुर्वेद की संहिता में प्रत्यक्ष आये हैं सो यह अपने ही पग में कुल्हाड़ी मारना है क्योंकि यदि आप लोगों के मत में महाभाष्यकार ने लौकिक उदाहरण मान कर पढ़े शब्द भी वैदिक ही हैं तो लौकिक उदाहरण कौन हुए? यह तुम को बताना चाहिये ॥

बड़े आश्चर्य का विषय है कि जो विद्या से प्रकाशित काशी में भी ऐसा अज्ञानरूप अन्धकार चले! विचार कर देखिये तो भारतवर्ष की अत्यन्त हीन दशा का यही कारण है। विद्वान् लोगों! आप ध्यान देकर देखिये! गाय घोड़ा आदि शब्द समास न किये हुए पृथक् २ गद्यरूप महाभाष्यकार ने पढ़े हैं उन का अभिप्राय वा प्रयोजन यह है कि लौकिक शब्द गद्य वा पद्य दोनों रूप मिले हुए वा पृथक् २ भी होते हैं और वैदिकशब्द मिले हुए (इसी कारण वेद पुस्तकों का नाम संहिता पड़ता है) छन्द नाम से प्रसिद्ध (छन्दः शब्द से गायत्री आदि पद्यरूप से बने हुए समझे जाते हैं) [अग्निमीडे पुरोहितम्] इत्यादि प्रकार के ही होते हैं और जब—अग्निम्। ईडे। पुरोहितम्। इत्यादि प्रकार से भिन्न २ पदादिरूप कर दिये जाते हैं तब इन को वैदिक शब्द नहीं कह सकते किन्तु लौकिक ही माने जावेंगे इसी कारण वेद के पद ऐसा कह सकते हैं यदि पद भी वेद ही हों तो उस से भिन्न न होने से षष्ठी का अर्थ नहीं घट सकता। और महाभाष्यकार वा श्री स्वामीदयानन्दसरस्वती जी का यह अभिप्राय नहीं है कि गौ वा अश्व आदि शब्द वेद में नहीं आते लोक में ही आते हैं इस लिये लौकिक हैं यदि ऐसा मानें तो स्पष्ट ही विरोध आवेगा क्या महाभाष्यकार नहीं जानते थे कि (आयंगौ०। सहस्रशीर्षा पुरुषः०। ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्०) इत्यादि वेद मन्त्रों में गौआदि शब्द प्रत्यक्ष ही आते हैं तो महाभाष्यकार वा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेद न देखा हो ऐसा कोई नहीं कह सकता क्योंकि वे लोग वेद के एक २ अक्षर को जानते थे इस लिये उन महात्माओं का यही आशय था कि गौआदि शब्द यद्यपि वेद में आते हैं तो भी संहिता न होने से वैदिक नहीं और वैदिक वे ही माने जावेंगे जो पद्य गायत्री आदि छन्दोबद्ध परमेश्वर से ऋषियों को प्राप्त हुए और इन से भिन्न लौकिक शब्द दोनों रूप हैं। जिन वैदिक शब्दों के आदि के उदाहरण दिये हैं उन से स्पष्ट अनुमान होता है कि जिन पुस्तकों के पहिले वाक्य वैदिक उदाहरण मान के महाभाष्यकार ने धरे हैं वे ही वेद हैं और गौ अश्व आदि पाठ लौकिक उदाहरण मान कर पढ़ा पृथक् २ शब्द समुदाय

ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त १४ का विचार

मन्त्री श्रीमती आर्यप्रतिनिधिसभा पश्चिमोत्तर देश वा अवध पं० भगवानुद्दीन जी ने मेरे पास आज्ञा भेजी थी कि इस सूक्त का अर्थ ठीक २ होना चाहिये सो अवकाश न मिलने से यह बहुत दिन पड़ा रहा आशा है कि उक्त महाशय क्षमा करेंगे। इस सूक्त का अर्थ विचारपूर्वक लिखने से पहिले पाठक महाशयों को यह भी ज्ञात होना चाहिये कि इस का अर्थ मन्त्री जी ने क्यों आवश्यक समझा। सब महाशयों को विदित रहे कि इस ऋग्वेद के १० मण्डल में प्रायः सूक्त ऐसे हैं जिन से पुराणों की गप्प सप्प कथा लोग निकालते वा समझते हैं कि अमुक २ पुराण की अमुक २ कथा का मूल ऋग्वेद का अमुक २ सूक्त है। इस अन्धपरम्परा के चलने का मूल कारण सायणाचार्य जी हैं जिन्हों ने चारों वेद पर भाष्य किया है। उन के भाष्य को देख कर संस्कृत के अन्य पण्डित तथा कुछ २ साहब मोक्षमूलरादि अंगरेज महाशय भी प्रायः वैसा ही समझते और मानते हैं अपनी बुद्धि पर कोई बल नहीं देता और न पूर्वापर का विचार करें कि यह बात कहां तक सत्य है? और इस में क्या मिथ्या है?॥

अब मैं यहां प्रथम इस सूक्त पर सायणाचार्य का अभिप्रायमात्र इस लिये लिख देता हूं जिस से पाठकों को प्रतिपक्ष का हाल भी ज्ञात हो जावे। और यह तो प्रायः पाठकों को ज्ञात ही होगा कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने भी इस मण्डल का अर्थ नहीं किया क्योंकि उन्हों ने छठे मण्डल तक ही भाष्य कर पाया था अब सायण का अर्थ देखिये—

अर्थः—हे मेरे अन्तरात्मा वा यजमान तुम पितृयों के स्वामी यमराज का पुरोडाशादि होमने योग्य सामग्री से पूजन करो। वे यमराज कैसे हैं कि पृथिवी पर भोग के साधन पुण्य का सेवन करते हुए पुरुषों को पुण्य सम्बन्धी अच्छे भोग प्राप्त हो सकने योग्य ऊपर स्वर्गादि स्थानों को प्रेरणा से पहुंचाने वाले तथा पुण्य करने वा स्वर्गप्राप्ति की इच्छा रखने वाले पुरुषों के लिये स्वर्ग के उचित मार्ग को न रोकने वाले अर्थात् पापी लोगों को स्वर्ग के मार्ग से रोक कर नरक को पहुंचाते हैं और पुण्यात्माओं के स्वर्ग सम्बन्धी मार्ग को नहीं रोकते। तथा वे यमराज सूर्य के पुत्र और पापी लोगों की प्राप्ति का स्थानरूप हैं अर्थात् पापी लोग यमराज के पास जाते हैं॥ १॥

सब में मुख्य वा माननीय यमराज हम प्रजा लोगों के शुभ अशुभ के निमित्त अच्छे बुरे कर्म को जानता है यह उक्त यमराज की शक्ति उस के अत्यन्त ज्ञानयुक्त होने से किसी से छीनी नहीं जासकती। जिस मार्ग में हमारे पूर्वज पितर लोग

गये हैं इसी मार्ग से चलते हुए उत्पन्न प्राणीमात्र अपने २ कर्मसम्बन्धी मार्गों के अनुकूल अच्छे बुरे फल पाते हैं ॥ २ ॥

मातलि नामक अपने सारथि के सहित राजा इन्द्र श्राद्ध भाग को लेने वाले पितृ लोगों के साथ वृद्धि वा उन्नति को प्राप्त होता हुआ और अङ्गिरस् नामक विशेष पितृयों के साथ बढ़ता हुआ यमराज इन दोनों में इन्द्रादिदेव लोग जिन श्राद्ध भोगने वाले पितृयों को बढ़ाते हैं और जो पितृ लोग इन्द्रादिदेवतों को बढ़ाते हैं अर्थात् परस्पर एक दूसरे की उन्नति करते हैं अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहते । इन दोनों देवता और पितृयों में से इन्द्रादिदेवता स्वाहा शब्द सुन कर आनन्दित होते और पितृ लोग स्वधा सुन कर हर्षित होते हैं ॥३॥

हे यमराज अङ्गिरस् नामक पितृयों के साथ मेल किये हुए तुम इस विस्तारपूर्वक रचे हुए यज्ञ में आओ और आकर बैठो । जिस कारण तुम यज्ञ में आने योग्य हो इस से विद्वान् ऋत्विजों से उच्चारण किये गये मन्त्र तुम को बुलावें । हे राजन् इस यज्ञसामग्री से प्रसन्न हुए तुम हर्षित हो और यजमान को प्रसन्न करो ॥ ४ ॥

हे यजमान अनेक प्रकार के रूपधारी वा वैश्वरूप नामक सामवेद जिन को प्रिय है ऐसे यज्ञ की योग्यता रखने वाले अङ्गिरस् नामक पितृयों के साथ आइये । और आकर इस यज्ञ में हर्षित हूजिये तथा यजमान को हर्षित कीजिये बिछाये हुए आसन पर बैठकर यजमान को प्रसन्न कीजिये ॥ ५ ॥

हे—नये आगमन वाले वा नवीन के तुल्य प्रीति करने वाले अङ्गिरस् नामक और अथर्व नामक, सोमरस पीने की योग्यता रखने वाले पितरो ! यज्ञ की योग्यता रखने वालों की दयायुक्त बुद्धि में हम सदा रहें अर्थात् उन के उपदेश में चलें और मन की प्रसन्नता के कारण कल्याणरूप फल में सदा रहें ॥६॥

जिस स्थान में हमारे पूर्वज पितामहादि पितृ लोग गये हैं उस स्थान को अनादि काल से प्रवृत्त मार्गों द्वारा हे मेरे पिता तुम जाओ । और जा कर अमृत रूप अन्न से तृप्त होते हुए वरुण और यमराज दोनों राजाओं को देखो ॥७॥

हे मेरे पिता तिस पीछे तुम सर्वोत्तम स्वर्गरूपस्थान में अपने पितृयों के साथ मेल करो अर्थात् वेदोक्त यज्ञादि कर्म और बावली कुआ तालाब आदि के बनवालेने सम्बन्धी स्मार्त कर्म के फल से स्वर्ग को प्राप्त होओ । तिस पीछे श्रौतस्मार्त कर्मफल के साथ आकर निन्दित पाप को छोड़कर स्वीकार किये अर्थात् कर्मानुकूल प्राप्त हुए घर में आओ । तिस पीछे सुन्दर कान्तियुक्त अपने शरीर से सम्बन्ध कीजिये ॥ ८ ॥

मर्घटभूमि में पहिले से रहते हुए हे पिशाचादि लोगो ! इस मरे हुए यजमान को जलाने के स्थान से दूर जाओ अर्थात् इस स्थान को छोड़ कर अत्यन्त दूर स्थान को चले जाओ । क्योंकि इस मरे हुए यजमान के प्रयोजनार्थ ,इस मर्घट भूमि को जलाने का स्थान पूर्वज पितृ लोगों ने बनाया है अर्थात् यमराज की आज्ञा से पितृ लोगों ने किया यमराज ने भी दिन और रात्रि से अर्थात् काल और जलादि से शुद्ध किया मर्घट स्थान इस मरे यजमान के लिये दिया है इस से तुम जाओ ॥ ९ ॥

हे अग्नि ! प्रेत को रोकने वाले सरमा नाम वाली जो देवताओं की कुतिया उस के पुत्र चार आखें वाले यमराज के सम्बन्धी दरवाजे पर रहते हुए दो कुत्तों के मार्ग को छोड़कर अच्छे मार्ग से जहां कुत्ते न काटें यमराज के न्यायालय [कचहरी] में यजमान को निर्विघ्न निष्कण्टक मार्ग से पहुंचाओ और अच्छे मार्ग से पहुंचाने वाद जो पितृ लोग यमराज के साथ आनन्द को प्राप्त होते हैं उन अच्छे ज्ञानी पितृयों के साथ मिलाओ ॥ १० ॥

हे यमराज तुम्हारे वे दोनों कुत्ते हैं उन से इस प्रेत की रक्षा कीजिये । वे दोनों कुत्ते आप के घर के रखवारे हैं चार २ आंखें वाले हैं मार्ग के रक्षक हैं मनुष्य लोग उन कुत्तों की प्रशंसा करते हैं अर्थात् श्रुति स्मृति और पुराणों के जानने वाले पुरुष उन दोनों कुत्तों को कहते हैं उन कुत्तों से बचा कर इस प्रेत को रोगों से बचा के कल्याणयुक्त कीजिये ॥ ११ ॥

वे दोनों कुत्ते यमराज के दूत बनकर प्राणियों के साथ विचरते हैं उन की नाक बड़ी है वे कुत्ते दूसरों के प्राण लेकर तृप्त होते हैं वे दोनों दूतरूप तथा बड़े बलवान् हैं आज दिन वे सूर्य को देखने के लिये हम को प्राणदान करें अर्थात् हमारे प्राण को छोड़ देवें ॥ १२ ॥

हे ऋत्विज् लोगो यम देवता के लिये सोमलता का रस खींचो तथा यमराज के लिये यज्ञसामग्री से होम करो यमराज को बुलाने के लिये अग्नि दूत है । बहुतसी सामग्रियें से शोभित किया यज्ञ अग्निद्वारा यमराज को पहुंचता है ॥१३॥

हे ऋत्विज् लोगो घृतादि उत्तम वस्तुओं से युक्त पुरोडाशादि हविष्य का यमराज के लिये होम करो यम की स्तुति प्रार्थना करो । सब में बड़ा देव यमराज उत्तम जीवन प्राप्ति के लिये हम को अधिक बड़ी आयु देवे ॥ १४ ॥

हे ऋत्विज् लोगो यमराज के लिये मीठे द्रव्यों से युक्त पुरोडाशादि हविष्य का होम करो । सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अच्छे मार्ग में चलाने वाले हम से पूर्वज ऋषि लोगों के लिये हमारा प्रत्यक्ष नमस्कार प्राप्त हो ॥१५॥

शरीर के प्रत्येक अङ्ग की पूर्त्ति के लिये ज्योति गौ और आयु नामक यज्ञों को यमराज प्राप्त होते हैं । किये वा न किये को देखने के लिये छः संख्या वाली पृथिवियों को प्राप्त होते हैं। और यम एक जगत् की रक्षा के लिये प्रवृत्त होते हैं । गायत्री आदि जो सात छन्द हैं वे सब ऋत्विजों से स्तुति में पढ़े हुए यमराज में प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

सब महाशयों को सायणाचार्य जी के इस अर्थ पर ध्यान देना चाहिये कि इन्हों ने इस सूक्त से गरुड़पुराण प्रेतखण्ड की कथा निकाली है अर्थात् गरुडपुराण के प्रेतखण्ड में इसी प्रकार की कथा का वर्णन विशेष कर किया है अर्थात् इसी का विस्तार गरुड़पुराण में किया गया है । अब विचार का स्थल है कि यमराज को सूर्य का पुत्र माना इस की छान वीन की जावे तो कुछ भी तत्त्व नहीं निकलता क्योंकि सूर्य एक लोक है उस का पुत्र क्या होगा ? पुत्र मनुष्य स्त्री पुरुषों के होते हैं । सूर्य की स्त्री कौन है यदि पृथिवी को स्त्री मानो कि पृथिवी में सूर्य का वर्षा जल रूप वीर्य पड़कर ओषध्यादि उत्पन्न होते और उन ओषधियो के भोजनादि से वीर्य हो कर मनुष्यादि होते हैं तो ऐसे सभी प्राणी सूर्य के पुत्र होंगे । यदि सूर्य से पालन होता है इस लिये पुत्र मानें तो भी सब पुत्र हो सकते हैं । आगे देखिये कि पापी लोगों का यमराज के यहां जाना लिखा इस से स्पष्ट अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि पुण्यात्मा लोग यमराज के यहां नहीं जाते यही बात पुराणों से भी सिद्ध है कि पापी लोग दण्ड पाने के लिये यमराज के यहां जाते हैं पुण्यात्मा नहीं । फिर आगे सायणाचार्य जी लिखते हैं कि अपने पिता से कोई कहता है कि हे मेरे पिता आप अच्छे कर्मों से अपने पितामहादि पितृयों के पहुंचने के स्थान स्वर्ग में जाइये वहां पूर्व गये अर्थात् तुम से पहिले मर कर वहां पहुंचे हुए पितृयों को मिलिये और राजा तथा यम वरुण का दर्शन कीजिये । इस से प्रतीत होता है कि यमराज स्वर्ग में रहते हैं और पुराणादि के अनुसार यमराज के लोक को ही पितृलोक भी मानते हैं । यहां तर्क उठता है कि यदि पापी लोग यमराज के पास जाते हैं तो अपने पिता से कोई क्यों कहे कि आप यमराज का दर्शन कीजिये क्या सब लोग अपने २ पिता को पापी भी समझें ?। और सब यमराज के पास पापी जाते हैं तो सब पितर वहां क्यों गये वा जाते है ? क्या सब पापी हो सकते हैं ?। और यमराज के पास नरक होना चाहिये स्वर्ग का क्या काम है क्योंकि पापी नरक में ही जाते हैं । यदि स्वर्ग नरक दोनों यमराज के निकट मानो और कहो कि सब पापी पुण्यात्मा वहां जाते हैं अच्छों को स्वर्ग और पापियों को यमराज नरक देते हैं तो वह बात विष्णुपुराणादि की मिथ्या होगी कि विष्णु के उपासक यमराज के यहां नहीं जाते किन्तु उन को विष्णु के दूत ले जाते हैं ।

जब यमराज के पास स्वर्ग भी है और वह पुण्यात्माओं को अच्छा फल स्वर्ग भी देता है तो विष्णु आदि के यहां जाना मानना सर्वथा व्यर्थ है। और भी देखिये यमराज मरे हुये दुष्ट जन्तुओं को दण्ड देता वा नरक में डालता है तो कोई पिशाचादि बन कर मर्घट भूमि में क्यों रहने लगे क्या यमराज छोड़ देता है। अथवा वागी होकर पिशाच निकल जाते हैं जो मनुष्यों के कार्यों में विघ्न करते हैं। इत्यादि अनेक शङ्का इन के अर्थ में ऐसी उठती वा उठ सकती हैं जिन का समाधान होना सर्वथा असम्भव है ॥

अब कुत्तों का विचार देखियेः—विचार का स्थान है कि यमपुरी में वे कुत्ते कैसे पहुंचे? यदि यमपुरी को न्यायस्थान (कचहरी) मानो तो यह प्रसिद्ध है कि मनुष्य से नीची योनियों में नवीन पाप पुण्य संचित नहीं हो सकते और शास्त्रों के सिद्धान्त से तथा तर्क से भी यही ठीक सत्य ठहरता है कि मनुष्ययोनि में किये महापातकों का फल भोगने के लिये पशु आदि निकृष्ट योनि मिलती हैं फिर वहां भी कर्मों का संचय हो तो उन का फल कहां भोगा जाय? और प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह विरुद्ध है कि कुत्ते आदि जन्तुओं में पाप पुण्य की व्यवस्था होवे इसी लिये इन योनियों के लिये धर्मशास्त्रकारों ने किसी प्रकार का विधि निषेध नहीं किया कि इन को क्या करना वा क्या न करना चाहिये। इस प्रकार पाप पुण्य का संचय कुत्ते आदि योनि में न होने से वे न्यायामय यमपुरी में कदापि नहीं ले जाये जा सकते। क्योंकि न्यायालय में अपराधी ही ले जाये जाते हैं निरपराधी नहीं ॥

यदि कहो कि मनुष्य के आत्मा वैसा अपराध देखकर यमपुरी के कुत्ते बनाये गये तो मानना पड़ेगा कि जब तक वे अपराधी कुत्ते नहीं बनाये गये थे तब से पहिले वहां कोई कुत्ता न होगा तो जाने वाले अपराधियों को कौन रोकता होगा? यदि कहो कि उस से पहिले अन्य अपराधी आत्माओं को कुत्ता बनाया गया इसी प्रकार परम्परा से चले आते और चले जावेंगे तो विचारना चाहिये कि वेद में जिन सरमा नामक कुतिया के पिल्लाओं का वर्णन है वे उस कुतिया के अवश्य कभी उत्पन्न हुए होंगे उस से पहिले अन्य किसी कुतिया से पैदा हुए होंगे तो उन का वर्णन वेद में क्यों नहीं किया? हम नहीं जान सकते कि जब वेद बनाये गये उस समय सरमा कुतिया के पिल्ला यमपुरी में थे तो अब कौन है अथवा वे तब नहीं थे अब हैं। यदि कहें कि सृष्टि के प्रारम्भ से वे ही दोनों कुत्ते बराबर चले आते और अन्त तक वे ही बने रहेंगे तो सरमा कुतिया यमपुरी में कहां से गयी? क्या वहां उत्पन्न हुई तो उस के उत्पादक अन्य कुत्ता कुतिया कहां होंगे। अथवा भूलोक से वहां भेजी गयी तो कोई कुत्ता भी साथ में

गया होगा। और भी विचारणीय है कि जब अपराधी लोग पाप का फल दण्ड-पाने के लिये यमपुरी में भेजे जाते हैं तो वे, क्यों रोके जाते हैं ? कुत्ते भीतर नहीं घुसने देते तो अपराधियों को इष्टापत्ति है क्योंकि कोई अपराधी दण्ड भोगस्थान में जाना स्वयमेव अच्छा नहीं समझता। और ऐसा हो तो न्यायाधीश पर दोष वा अज्ञान आता है कि उस को अपने पास अपराधी निरन्तर बुलाने चाहिये और यथायोग्य दण्ड देवे, सो उलटा रुकवाता है। और यमपुरी में जो दरवाज़ों पर कुत्तेरूप चौकीदार रक्खे जाते हैं उस के बदले यदि वहां अच्छे जवान शस्त्रधारी मनुष्य रक्खे जावें तो अच्छा प्रबन्ध कर सकते हैं। क्योंकि अपराधियों में कोई निर्भय प्रबल हो तो कुत्ते को मार धमका भी सकता है और सैकड़ों अपराधी मनुष्य एक साथ दो कुत्तों को धमकावें तो ठहर भी नहीं सकते। इत्यादि अनेक बात असम्भव हैं ॥

और एक वार्त्ता यह भी विचार की है कि जब यमपुरी आदि में पशु पक्षी आदि सब योनि और सब के वास वस्त्र मरने जीवने खाने पीने आदि व्यवहार इसी देश वा लोक के समान हैं तो वहां विशेषता क्या हुई और वह लोकान्तर क्यों माना जाता है ? जो बातें वहां मानी गई हैं उन में से अनेक तो यहां भी विद्यमान हैं और जो नहीं हैं उन का प्रबन्ध हो सकता है। इस लिये यह पौराणिक लीला वा पोपलीला वेद से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती। कुत्ते आदि का होना यह सब जाल रचना हैं इस में असंख्य शङ्का हो सकती हैं इस प्रकार के लेख की समाप्ति नहीं हो सकती इस लिये इस विवाद को समाप्त कर के अब मुख्य विचार करना चाहिये कि इस सूक्त का वास्तविक अर्थ क्या है ॥

यह सूक्त १६ मन्त्र का है। इस का पृथक् २ एक २ मन्त्र का अर्थ लिखने से पहिले सारांश यह है कि मनुष्य मरते समय क्या करे, कैसा विचार वा ध्यान करे इस प्रकार का उपदेश इस सूक्त में परमेश्वर ने किया है जिस विचारान्तर में चित्त लगाने और शुभ कर्त्तव्य की ओर ध्यान देने से शरीर छोड़ते समय अत्यन्त दुःख सागर में न डूबे और जन्मान्तर में सुखपूर्वक उत्तम योनि सुख की सामग्री वा मुक्तिदशा को प्राप्त होवे ॥

अथास्मिन् दशममण्डले चतुर्दशतमस्य सूक्तस्य यमऋषिः। १। ५। १३। १६। यमः। ६ लिङ्गोक्ताः। ७—९ लिङ्गोक्ताः पितरो वा। १०—१२ श्वानौ च देवताः। ११२ त्रिष्टुप्। १३। १४। १६ अनुष्टुप्। १५। बृहती च छन्दः। इत्युपक्रमणिका ॥

यह ऊपर लिखा पाठ सब ऋग्वेद की उपक्रमणिका का अनुवाद है सब वेदों की उपक्रमणिका पृथक् २ होती हैं। उन का अभिप्राय सामान्य कर यही है कि एक प्रकार का भावार्थ मन्त्रों का लिख दिया है कि इन २ मन्त्रों में इस २ प्रकार का वर्णन है। ऋषि लिखने का प्रयोजन यह है कि जब २ वेद लुप्तप्राय वा मन्दप्रचार हो जाते हैं तब २ जिन २ ऋषियों द्वारा उन का आशय प्रचरित हुआ उन २ का नाम उन २ मन्त्रों वा सूक्तों के साथ इस लिये लगाते हैं कि जिस से उन के महत् कार्य की प्रशंसा जगत् में चली जावे जिस से अन्य लोगों को भी ऐसे श्रेष्ठ कर्म करने का उत्साह बढ़े। प्रत्येक मन्त्र वा सूक्त के साथ देवता लिखने का प्रयोजन यह है कि जिस सूक्त वा मंत्र का जो देवता लिखा जाता है उसी पद के वाच्यार्थ का वर्णन उस सूक्त वा मंत्र में होता है अर्थात् जिस का जो देवता है उसी का व्याख्यान उस में जान लेना चाहिये ॥

जैसे (तत्सवितु०) मन्त्र का देवता "सविता" है अर्थात् सविता पदवाच्य का वर्णन उस मन्त्र में है। इसी प्रकार देवता जान लेने से उस मन्त्र वा सूक्त का सारांश जान लिया जाता है। और छन्द लिख देने से उस मन्त्र वा सूक्त की पादव्यवस्था जान लेने से उच्चारण ठीक २ हो सकता है। जहां ठहरना वा न ठहरना चाहिये वहां वैसा करना है। और पादव्यवस्था के अनुसार ही वाक्यव्यवस्था बनती है जिस से अर्थ का बोध सुलभता से होता है। अब मन्त्रार्थ का प्रारम्भ किया जाता है:-

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥ १ ॥

परेयिवांसम्। प्रवतः। महीः। अनुबहुभ्यः। पन्थाम्। अनुपस्पशानम्। वैवस्वतम्। सङ्गमनम्। जनानाम्। यमम्। राजानम्। हविषा। दुवस्य ॥ १ ॥

अ०-हे मनुष्य त्वम् (प्रवतः) कर्मानुकूलमेकस्माज्जन्मनो जन्मान्तरं गच्छतो जनान् (महीः) तत्रत्यभोगाधिकरणप्रदेशविशेषान् (अनुपरेयिवासम्) आनुकूल्येन प्रापितवन्तम् (बहुभ्यः)

शुभाशुभकर्मानुष्ठातृभ्यः शरीरिभ्यः (पन्थाम्) कर्मफलोचित-मार्गम् (अनुपस्पशानम्) आनुकूल्येन स्पर्शयितारं दातारम् (जनानाम्) योगिनां जीवन्मुक्तानां ज्ञानिनाम् (संगमनम्) सम्यक्त्वेन गन्तव्यरूपम् (वैवस्वतम्) विशेषतया यत्र तत्र व-सन्तीति विवसो जीवात्मादयश्चराचररूपाः परिच्छिन्नाः कार्यपदार्थास्ते सन्त्यस्मिन्स विवस्वानेव वैवस्वतस्तं सर्वाधारम् (राजानम्) राजमानं सर्वस्वामिनम् (यमम्) न्यायपरायणं कर्मानुकूलान् जात्यायुर्भोगान् प्रयच्छन्तं परमात्मानम् (हविषा) वेदादिशास्त्राद् गुरुमुखाद्वाऽऽदत्तेन ज्ञानेन (दुवस्य) परिचर सेवयेत्यर्थः ॥

प्रवतइति गत्यर्थात्प्रुङ्धातोः शतरि प्रत्यये द्वितीयाबहुवचनम् । व्यत्ययेन परस्मैपदं च । परेयिवांसमिति परापूर्वादिण्धातोः क्वसुः । अनुपस्पशानमिति स्पश बाधनस्पर्शनयोरिति धातोर्लिटः कानच् । विवस्वानिति विपूर्वाद्वसधातोः क्विप् ततो मतुप् ततश्च स्वार्थेऽण् तद्धितः प्रत्ययः ॥ १ ॥

भा०-प्रयाणकाले मनुष्येणैवं ध्यातव्यम्-सर्वनियन्ता परमेश्वरएवास्मदादीन् सर्वान् मरणानन्तरं कर्मानुकूलान् भोगान् ददाति दुष्कर्मिणो दुःखबहुलप्रदेशेषु निःक्षिपति पुण्यात्मनश्च सुखप्रायप्रदेशेषु। मुक्ताश्च शरीरं विहाय तमेवाप्नुवन्ति सएव सर्वस्याधिष्ठाता। ये तमेवाहर्निशं ध्यायन्ति ते दुःखेभ्यो मुच्यन्तेऽतो मयेदानीं तस्यैवाराधनं कार्यम् । इदानीं नास्ति ततोऽन्यः कश्चित्सहायो मम यो दुःखसागरात्तारयेत् । तस्माच्चेतो निरुध्य तस्यैव ध्यानं कार्यम् ॥

भावार्थः—हे मनुष्य तू (प्रवतः) कर्मों के अनुकूल एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त होते हुए मनुष्यों को (महीः) पृथिवी पर भोगों के आधाररूप साधन विशेष प्रदेशों को (अनुपरेयिवांसम्) अनुकूलता से प्राप्त कराते हुए (बहुभ्यः) शुभ अशुभकर्मों के अनुष्ठान करने वाले प्राणियों के लिये (पन्थाम्) कर्मफल के अनुकूल मार्ग को (अनुपस्पशानम्) अनुकूलता से देने वाले (जनानाम्) जीवन्मुक्त ज्ञानी लोगों को (सङ्गमनम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होने के स्थानरूप (वैवस्वतम्) विशेष

कर अर्थात् जहां तहां बसने वाले परिच्छिन्न जड़ और चेतन कार्य्य पदार्थ जिस में रहें उस सर्वाधार (राजानम्) प्रकाशमान सब के स्वामी (यमम्) न्यायपूर्वक कर्मों के अनुसार जन्म अवस्था और भोग सब को पहुंचाते हुए परमात्मा की (हविषा) वेदादिशास्त्र वा गुरुमुख से ग्रहण किये ज्ञान से (दुवस्य) पूजा कर ॥

भा०—मरण समय में मनुष्य को ऐसा ध्यान करना चाहिये कि सब का नियन्ता परमेश्वर ही हम सब लोगों को मरने पश्चात् कर्मानुकूल भोग देता है। दुष्टकर्म करने वालों को अनेक दुःखों से युक्त देशों में पहुंचाता और पुण्यात्माओं को सुखयुक्त देशों में पहुंचाता है। मुक्त पुरुष शरीर को छोड़कर उसी को प्राप्त होते हैं वही सब का अधिष्ठाता है जो लोग दिन रात उसी का ध्यान करते हैं वे सब दुःखों से छूट जाते हैं इस से मुझ को ऐसे समय में उसी की आराधना करनी उचित है क्योंकि अब उस से भिन्न कोई मेरा सहायकारी नहीं जो दुःखसागर से पार करे जिस से चित्त को रोक कर उसीका ध्यान करना चाहिये ॥१॥

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञाना पथ्या३ अनु स्वाः ॥२॥

यमः। नः। गातुम्। प्रथमः। विवेद। न। एषा। गव्यूतिः। अपभर्त्तवै। ऊं (इति)। यत्र। नः। पूर्वे। पितरः। परेयुः। एना। जज्ञानाः। पथ्याः। अनु। स्वाः ॥२॥

अ०—(प्रथमः) प्रख्यातः (यमः) सर्वस्य जगतो नियन्ता परमेश्वरः (नः) अस्माकं प्रजानाम् (गातुम्) गमनमार्गं सदसत्कर्मोचितपन्थानम् (विवेद) जानाति (उ) अपि नियन्तुः (एषा) (गव्यूतिः) पुण्यपापफलभोगसाधनो द्विधा मार्गः (न, अपभर्त्तवै) सूक्ष्मतरविचारसम्बन्धादपि न केनाप्यपहर्तुं शक्यते (यत्र) मार्गे (नः) अस्माकम् (पूर्वे) भूतपूर्वाः (पितरः) पालनशीला विद्वांसः (परेयुः) प्रकृष्टतया गतवन्तः (एना) अनेन मार्गेण गच्छन्तः

(जज्ञानाः) उत्पन्नाः सर्वे प्राणिनः (स्वाः) स्वकीयाः (पथ्याः) कर्मगतीः (अनु) अनुकूलतया प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥२॥

भा०—परमेश्वरएवास्माकं भाविकर्मफलं जानाति नैव वयं ज्ञातुं शक्नुमः कस्यां योनावुत्पत्य कीदृशं भोगमवाप्स्यामइति परमात्मना यादृशं कर्मफलमस्मदर्थे नियुज्यते न तत्केनापि वारयितुमर्हम्। अतोऽस्माभिरपि पूर्वजपितृपितामहादिभिः प्रवर्त्तितवैदिकश्रेष्ठमार्गेण गत्वा स्वस्य कर्मणः शुभफलमेव भोक्तव्यम् २

भाषार्थः—(प्रथमः) विद्वानों में प्रसिद्ध न्यायकारी (यमः) सब जगत् को नियम में रखने वाला परमेश्वर (नः) हम प्रजा जनों के (गातुम्) अच्छे बुरे कर्मों के अनुकूल मार्ग को (विवेद) जानता है (उ) और उसी सर्वनियन्ता ईश्वर का (एषा) यह (गव्यूतिः) पुण्य और पाप के फलभोग का साधनरूप दो प्रकार का मार्ग (न, अपभर्त्तवै) अतिसूक्ष्म विचार से भी कोई नहीं मिटा सकता कि (यत्र) जिस मार्ग में (नः) हमारे (पूर्वे) पहिले हुए (पितरः) पालनशील विद्वान् लोग (परेयुः) अच्छे प्रकार चलते आये हैं (एना) इस मार्ग से चलते हुए (जज्ञानाः) उत्पन्न हुए सब प्राणीमात्र (स्वाः) अपनी (पथ्याः) कर्मगतियों को (अनु) अनुकूलता से प्राप्त होते हैं ॥

भा०—परमेश्वर ही केवल हमारे भावी कर्मफल को जानता है किन्तु हम लोग नहीं जान सकते कि किस योनि में उत्पन्न होकर कैसा भोग पावेंगे। परमेश्वर जैसा कर्मफल हमारे लिये नियत करता है उस को कोई नहीं हटा सकता। इस लिये हम को भी उचित है कि पूर्वज पिता वा पितामहादि ने प्रवृत्त किये श्रेष्ठ वैदिक मार्ग से चलकर अपने कर्म का शुभफल अवश्य भोगने का उपाय करें ॥ २ ॥

मातली कव्यैर्यमोऽअङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयाऽन्ये मदन्ति ॥३॥

मातली । कव्यैः । यमः । अङ्गिरोभिः । बृहस्पतिः । ऋक्वभिः । वावृधानः ।

यान् । च । देवाः । वावृधुः । ये । च । देवान् । स्वाहा । अन्ये । स्वधया । अन्ये । मदन्ति ॥ ३ ॥

अ०-(मातली) मतं ज्ञानमेव मातम् । स्वार्थेऽण् तस्मिन् लीयते श्लिष्यति स ज्ञानेन संयुक्तः (कव्यैः) कवीनामव्याहतबुद्धीनां कर्मभिः काव्यैः सच्छास्त्रैः (यमः) संयतेन्द्रियक्रियः (अङ्गिरोभिः) स्वीकारयोग्यधर्म्यप्रियवचोभिः (बृहस्पतिः) वेदपारगो विद्वान् (ऋक्वभिः) ऋग्वेदादिवेदवाक्यैः (वावृधानः) वर्धमानो भवति । एते (देवाः) विद्वांसः (यान् च) यानेव शिष्यान् विद्यादानेन (ये, च) शिष्या अपि रक्षणशुश्रूषणादिना (देवान्) स्वगुरून् विदुषः (वावृधुः) वर्द्धयन्ति तयोरुभयोर्मध्ये (अन्ये) विद्वांसः (स्वाहा) शोभनया वाचा (अन्ये) शिष्याश्च (स्वधया) अन्नादिना (मदन्ति) हृष्यन्ति परस्परम्मादयन्ति च॥३॥

भा०-त्रिविधा एव विद्वांसो जगति भवन्ति । केचिज्ज्ञाननिष्ठाः केचिद्योगनिष्ठा अपरे वेदादिशास्त्राणामध्ययनाध्यापनयोरतास्तेभ्यएव प्रयाणकाले उपदेशः श्रोतव्यो ये शिष्याध्यापनादिपरोपकारानुष्ठानेसततंरमन्ते। नतुस्वार्थी कश्चिदुपदेष्टुमर्हति॥३॥

भाषार्थः-(मातली) अपने निश्चित दृढ़ विचाररूप ज्ञान से युक्त (कव्यैः) सर्वत्र निरन्तर चलती बुद्धि वाले पुरुषों (ऋषियों) के बनाये श्रेष्ठशास्त्रों से (यमः) इन्द्रिय मन और आत्मा वा शरीर जिस के वश में हैं वह योगी विद्वान् (अङ्गिरोभिः) स्वीकार करने योग्य धर्मयुक्त प्रियवचनों से और (बृहस्पतिः) वेद के पार पहुंचने वाला विद्वान् (ऋक्वभिः) ऋग्वेदादि वेद के वाक्यों से (वावृधानः) वृद्धि को प्राप्त होता है । ये उक्त तीन प्रकार के (देवाः) विद्वान् लोग (यान् , च) जिन शिष्यों को विद्या शिक्षा देकर (च, ये) और जो शिष्य लोग भी रक्षा वा सेवा शुश्रूषादि द्वारा अपने (देवान्) विद्वान् गुरुओं को (वावृधुः) बढ़ाते हैं उन दोनों के बीच (अन्ये) विद्वान् लोग (स्वाहा) उत्तम वाणी से और (अन्ये) शिष्य लोग (स्वधया) अन्नादि की प्राप्ति से (मदन्ति) आनन्दित वा उत्साहित होते और परस्पर आनन्द को प्राप्त कराते हैं ॥

भा० तीन प्रकार के ही विद्वान् जगत् में होते हैं कोई ज्ञानी कोई योगाभ्यासी और तृतीय वेदादि शास्त्रों के पठन पाठन में तत्पर। उन्हीं से मरण समय मनुष्य को उपदेश सुनना चाहिये कि जो शिष्यों को पढ़ाने आदि परोपकार के सेवन में रत हैं किन्तु स्वार्थी का उपदेश कदापि उपयोगी नहीं हो सकता ॥३॥

इमं यम प्रस्तरमाहि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥ ४ ॥

इमम् । यम । प्रस्तरम् । आ । हि । सीद । अङ्गिरःऽभिः । पितृभिः । संविदानः । आ । त्वा । मन्त्राः । कविशस्ताः । वहन्तु । एना । राजन् । हविषा । मादयस्व ॥ ४ ॥

हे (यम) संसारस्थभोगादुपरतबुद्धे उपात्तं कलेवरं जिहासो प्राणिंस्त्वम् (अङ्गिरोभिः) अङ्गीकर्त्तव्यैर्ज्ञानोपदेशैः (संविदानः) सम्प्रबोधितः (इमम्) मयोपदेष्ट्रा समक्षे प्रतिपाद्यमानम् (प्रस्तरम्) मणिवत्साररूपं ज्ञानम् (आ, हि, सीद) निश्चलतया स्थिरो भव। अर्थाज्ज्ञानोपदेशरूपायां दुःखसागरात्सन्तारिकायां नावि सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्थिरो भव किं कुर्वंस्तदाह-हे (राजन्) सर्वस्वामिन् परमेश्वर (एना) अनेन (हविषा) मयोपार्जितेन ज्ञानयज्ञसाधनेनोपासनेन सन्तुष्टस्त्वम् (मादयस्व) मां दुःखात्पृथक्कृत्य सुखिनं कुरु। एवं कृते सति (त्वा) त्वाम् (कविशस्ताः) कविभिरव्याहतबुद्धिभिर्ज्ञाननिष्ठैर्जनैः प्रस्तुताः प्रवर्त्तिताश्च (मन्त्राः) रहस्यज्ञानविचाराः (आ, वहन्तु) सद्गतिम्प्रापयन्तु ॥

भा० -मनुष्येण प्रयाणावसरमागतमालोक्य स्वेषु पुत्रमित्रकलत्रधनैश्वर्यादिषु प्रसृतां बुद्धिवृत्तिमाकृष्य सुखभोगवासनाश्च विहायोदासीनेन भाव्यम्। तदानीं भोगादुपरतबुद्धिसम्बन्धाज्ज्ञानोपदेशश्श्राव्यः। सद्गतिभावाय परमात्मप्रार्थनायाञ्च मनः स्थाप्यम् ॥ ४ ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ४ } तारीख १५ जनवरी—पौष संवत् १९४७ { अङ्क ५

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त १४ का शेष अर्थ

भावार्थः—हे (यम) संसारी विषय भोगों से जिस की बुद्धि विरक्त हुई ऐसे वर्त्तमान शरीर को छोड़ने की इच्छा रखने वाले प्राणी तुम (अङ्गिरोभिः) ग्रहण करने योग्य ज्ञानसम्बन्धी उपदेशों से (संविदानः) अच्छे जानकार हुए (इमम्) मुझ उपदेशक ने प्रत्यक्ष में प्रतिपादन किये (प्रस्तरम्) मणि के तुल्य साररूप ज्ञान में (आ, हि, सीद) निश्चलता से स्थिर होओ । अर्थात् दुःखसागर से पार करने वाली ज्ञानोपदेशरूप नौका में सब इन्द्रियों की वृत्ति को रोक कर स्थिर होओ । और आगे लिखे प्रकार परमेश्वर से प्रार्थना करो कि—हे (राजन्) सब के स्वामी परमेश्वर (एना) इस (हविषा) मैंने उपार्जन किये उपासनारूप ज्ञानयज्ञ के साधन से सन्तुष्ट हुए आप (मादयस्व) मुझ को दुःख से बचाकर सुखी कीजिये । ऐसा करने पर (त्वा) तुम [उपासक] को (कविशस्ताः) सब शास्त्रों में चलने वाली बुद्धि से युक्त ज्ञानीजनों से प्रशंसित किये गये वा लोक में प्रवृत्त किये गये (मन्त्राः) एकान्त में समझने योग्य ज्ञानसम्बन्धी विचार (आ, वहन्तु) श्रेष्ठगति वा दशा को प्राप्त करें ॥

भा०—मनुष्य को चाहिये कि मरण समय को समीप आया देख कर अपने स्त्री पुत्र मित्र और धन वा ऐश्वर्यादि में फैली हुई बुद्धि की वृत्ति को खेंच कर और संसारी सुखभोग की वासनाओं को छोड़कर विरक्त हो जावे । उस समय

विरक्त ज्ञानी पुरुषों से ज्ञान का उपदेश सुने तथा सद्गति होने के लिये परमेश्वर की प्रार्थना में मन लगावे ॥ ४ ॥

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्यानिषद्य ॥ ५ ॥

अङ्गिरःऽभिः । आ । गहि । यज्ञियेभिः । यम। वैरूपैः। इह । मादयस्व। विवस्वन्तम्। हुवे। यः। पिता। ते। अस्मिन्। यज्ञे। बर्हिषि। आ । निषद्य ॥ ५ ॥

भ०—पुनरुपदेशक इत्थं वदेत्—हे मरणावसरं प्राप्त प्राणिन्नहम्, (यः) (ते) तव (पिता) मरणदुःखात्तारको रक्षकोवाऽस्ति तम् (विवस्वन्तम्) सर्वाधारं जगदीश्वरम् (हुवे) आह्वयामि (अस्मिन्) प्रत्यक्षे (यज्ञे) योगाङ्गध्यानयज्ञे तत्परः (बर्हिषि) भूमौ विस्तीर्णे कुशासने (आ,निषद्य) उपविश्योपासनायां चेतो योजय। एवमुपदिष्टः स प्रार्थयेत्—हे (यम) सर्वनियन्तः परमात्मन् (वैरूपैः) नानाप्रकारकैः (यज्ञियेभिः) यज्ञकर्माहैः (अङ्गिरोभिः) ज्ञानिभिरुपदेशकैरुपदिष्टस्त्वम् (इह) अस्मदन्तःकरणे (आ, गहि) आगच्छ साहाय्यं कुरु दुःखं निवार्य्य माम् (मादयस्व) प्रसन्नमनसं कुरु ॥

भा०—मरणावसरे सन्निहिते प्राणिनं खट्वात उत्तार्य कुशासन उपवेशयेत्। तदानीमपि ज्ञानोपदेशस्तस्मै श्राव्यः। म्रियमाणेनापि तदानीं परमेश्वरस्यैवोपासनं कार्यम् ॥ ५ ॥

भावार्थः—फिर उपदेशक ऐसे कहे कि—हे मरण समय को प्राप्त हुए प्राणी मैं (यः) जो (ते) तेरा (पिता) मरण दुःख से पार करने वाला रक्षक पिता है उस (विवस्वन्तम्) सब के आधार जगदीश्वर को (हुवे) बुलाता वा प्रार्थना से पुकारता हूं कि वह तेरी सहायता करे (अस्मिन्) इस प्रत्यक्ष (यज्ञे) योग के ध्यानरूप यज्ञ में तत्पर हुआ (बर्हिषि) भूमि में बिछाये कुश के आसन पर (आ, निषद्य) बैठ वा लेट कर उपासना में चित्त लगावो। ऐसा उपदेश सुन कर वह मनुष्य प्रार्थना करे कि हे (यम) सब को नियम में चलाने वाले परमेश्वर (वैरूपैः) नानाप्रकारों वाले (यज्ञियेभिः) यज्ञ कर्म की योग्यता रखने वाले (अङ्गिरोभिः) उपदेशक ज्ञानी लोगों से उपदेश को प्राप्त हुए तुम (इह) यहां मेरे हृदय में (आ, गहि) आइये सहायता कीजिये। दुःख को हटा कर मुझ को (मादयस्व) प्रसन्न करिये॥

भा०—मरण समय समीप आवे तब मनुष्य को खटिया से उतार कर कुश के आसन पर बैठावे वा लिटावे उस समय भी उस को ज्ञानसम्बन्धी उपदेश सुनाना चाहिये और मरते हुए मनुष्य को भी अन्त समय विशेष कर परमेश्वर की प्रार्थना अवश्य करनी उचित है॥ ५॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ६॥

प०—अङ्गिरसः। नः। पितरः। नवग्वाः। अथर्वाणः। भृगवः। सोम्यासः। तेषाम्। वयम्। सुमतौ। यज्ञियानाम्। अपि। भद्रे। सौमनसे। स्याम॥ ६॥

अ०—म्रियमाणैरित्थमपि भावनीयम्—ये (नवग्वाः) उत्कृष्टबोधाः (भृगवः) तपसोपार्जितविद्याधनाः (अथर्वाणः) दयालवो

निर्गतसन्देहाः । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधो निपातोऽथर्वेति निरुक्तकारः। चरसंशये, इति चौरादिको धातुः। तदर्थस्य प्रतिषेधेन विगतसन्देहा अथर्वाण इत्युच्यन्ते (सोम्यासः) सोम्याः शान्तशीलाः । आज्जसेरसुगिति सूत्रेणासुगागमः (अङ्गिरसः) अङ्गीकृतस्य पालकाः (नः) अस्माकम् (पितरः) भूतपूर्वाः पितृपितामहप्रपितामहादयः (तेषाम्, यज्ञियानाम्) यज्ञकर्म्माहाणां पितृणाम् (सुमतौ) शोभनायां मतौ (सौमनसे) मनसः प्रसादोत्पादके रागद्वेषविवर्जिते (भद्रे) कल्याणकरे कर्मणि च (वयम्) (स्याम) दृढास्तत्परा भवेम ॥

भा०—यद्यपि स्वकुले भूतपूर्वाणां व्यवसायात्मिकबुद्धीनामनुष्ठितवेदोक्तशुभकर्मणामगाधबुद्धीनामाचरणं मनुष्येण सदा स्मर्तव्यम् । यतःपुण्यात्मनां स्मरणमपि मनुष्यं शुभे प्रयोजयति । तथापि प्रयाणकाले सम्प्राप्ते विशिष्टतयैतत्स्मर्तव्यं येन शोकमोहादीनां निवृत्तिपूर्वकं मनुष्यस्य शुभे निष्ठा सत्युत्तमगतिहेतुर्भवेदिति ॥ ६ ॥

भाषार्थः—मरते हुए मनुष्यों को ऐसी भावना भी करनी चाहिये कि जो (नवग्वाः) प्रबल ज्ञानी (भृगवः) ब्रह्मचर्यरूप तप के साथ विद्यारूप अक्षयधन जिन ने उपार्जन किया (अथर्वाणः) सब सन्देहों से रहित निश्चयात्मक ज्ञान वाले (सोम्यासः) शान्तिशील (अङ्गिरसः) अङ्गीकृत वचन प्रतिज्ञा वा मनुष्यादि के रक्षक अर्थात् प्राण छूटने के भय से भी प्रतिज्ञा को न छोड़ने वाले (नः) हमारे (पितरः) पहिले पिता, पितामह, प्रपितामहादि सत्पुरुष हो चुके हैं (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) यज्ञकर्म करने की योग्यता रखने वाले पितरों की (सुमतौ) अच्छी सम्मति श्रेष्ठ विचारों पर हम भी चलें और (सौमनसे) मन को प्रसन्न करने वाले रागद्वेषरहित (भद्रे) कल्याणकारी कर्म में (वयम्) हम लोग (स्याम) तत्पर रहैं ॥

भा०—यद्यपि अपने कुल में पहिले हो चुके व्यवसायात्मिक बुद्धि वाले वेदोक्त शुभकर्मों के सेवी और गम्भीर बुद्धियुक्त पुरुषों के आचरण का मनुष्य को सदा स्मरण करना चाहिये क्योंकि पुण्यात्मा पुरुषों का स्मरण भी मनुष्य को अच्छे काम में प्रेरित करता है तथापि मरण समय विशेष कर ऐसे लोगों का स्मरण करना चाहिये जिस से शोक मोहादि की निवृत्ति होकर मनुष्य की शुभविचार में हुई निष्ठा उत्तम गति का हेतु होवे ॥ ६ ॥

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः । उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ७ ॥

प्रेहि । प्रेहि । पथिभिः । पूर्व्येभिः । यत्र । नः । पूर्वे । पितरः । परेयुः । उभा । राजाना । स्वधया । मदन्ता । यमम् । पश्यासि । वरुणम् । च । देवम् ॥ ७ ॥

अ० - पुनरुपदेशको म्रियमाणं संबोध्येत्थमुपदिशेत्–(यत्र) यस्मिन् मार्गे (नः) अस्माकम् (पूर्वे) प्राचीनाः (पितरः) ज्ञानिजनाः (परेयुः) परां गतिं प्रापुस्तैः (पूर्व्यैः) पूर्वजनिष्पादितैः (पथिभिः) मार्गैः–हे म्रियमाण प्राणिंस्त्वम् (प्रेहि, प्रेहि) शीघ्रं गच्छ गच्छेदं कलेवरं क्षिप्रं विहाय प्रयाहि । इदानीं विलम्बो महाक्लेशजनकस्तवास्मदादीनां च, तस्माद्दूरं गच्छ । इतो गत्वा त्वम् (यमम्) देशाद्देशान्तरं पदार्थान् नेतारं सूर्यचन्द्रादीनां स्वस्वपरिधावाकाशे नियन्तारं वायुम् (च) अनन्तरम् (वरुणम्) तत्रस्थं मेघमण्डलम् (देवम्) दिव्यगुणयुक्तं सूर्यतेजसा दीप्य-

मानं वा । देवशब्दउभयोर्विशेषणमस्ति (उभा) इमौ द्वौ (स्वधया) स्वस्मिन् धारितया प्राणिनां जीवनशक्त्या (मदन्ता) मादयन्तौ जन्तून् हर्षयन्तौ। अन्तर्भूतोऽत्र णिजर्थः। अत्रोभयत्र सुपांसुलुगिति विभक्तेराकारादेशः (पश्यासि) द्रक्ष्यसि। अत्र भविष्यति लेट् ॥

भा०—प्राणनिस्सरणसमये भृशत्वमेव वरम् । एवं सति तात्कालिकी वेदना म्रियमाणस्य सद्यो निवर्त्तते। संबन्धिनश्च शोकादिकं शिथिलीकृत्य दाहादिकर्मणि प्रवर्त्तन्ते। इतः शरीराज्जीवात्मा सलिङ्गशरीरो निस्सृत्यान्तरिक्षस्थवायुमण्डले गच्छति तस्यैव वायोर्यमापि नामास्ति लोकानां नियन्तृत्वात्। लघुतूलत्वमापन्नं सर्वं वस्तु वायुनान्तरिक्षे नीयतेऽनन्तरं च वायुमण्डले भ्रान्त्वा जीवात्मा जलपरमाणुभिः साकं कीदृशमपि सूक्ष्मशरीरं दधानः पृथिव्यामागत्य कस्यांचिद्योनौ स्वकर्मानुकूलान् जात्यायुर्भोगानाप्नोति ॥ ७ ॥

भाषार्थः—फिर भी उपदेशक पुरुष मरते हुए प्राणी को जताकर ऐसा उपदेश करे कि (यत्र) जिस मार्ग में (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्वज (पितरः) ज्ञानी लोग चल कर (परेयुः) उत्तमगति को प्राप्त हुए उन्हीं (पूर्व्यैः) पूर्वज लोगों ने प्रवृत्त किये धर्म सम्बन्धी (पथिभिः) मार्गों से अर्थात् ईश्वर की ओर ध्यान लगा कर और संसारी शोक मोह को त्याग के हे प्राणी तुम (प्रेहि, प्रेहि) शरीर को शीघ्र छोड़ कर के जाओ । इस समय विलम्ब करना तुम को और हम सब लोगों को क्लेश बढ़ाने वाला है इस कारण शीघ्र निकल जाओ और यहां से जाकर तुम (यमम्) एक स्थान से दूसरे स्थान में पदार्थों को पहुंचाने और सूर्य चद्रमादि लोकों को अपनी २ परिधिरूप अवकाश में ठहराने वाले वायु (च) और उस के पीछे (वरुणम्) उस वायु में ठहरे हुए (देवम्) शुभ गुण युक्त वा सूर्य के तेज से प्रकाशमान मेघमण्डल (स्वधया) अपने में धारण की प्राणियों की जीवन की शक्ति वा जन्म होने की कारणरूप शक्ति से प्राणियों को (मदन्ता) प्रसन्न करते हुए (उभा) इन दोनों को (पश्यासि) देखोगे ॥

भा०—प्राण निकलते समय शीघ्रता होना ही उत्तम है । ऐसा होने अर्थात् शीघ्र प्राण निकल जाने से जीवात्मा को उस समय की पीड़ा अधिक नहीं व्यापती किन्तु शीघ्र निवृत्त हो जाती है । और देर तक व्याकुल हो कर निकलने से उस के सम्बन्धी मनुष्यों को भी अधिक शोक बढ़ता है और शीघ्र निकल जाने से सम्बन्धी इष्ट मित्र कुटुम्बी आदि शोकादि को कम कर दाहादि करने के विचार में लग जाते हैं । जीवात्मा इस शरीर से लिङ्ग शरीर के सहित निकल कर अन्तरिक्ष के वायु मण्डल में जाता है उसी वायु का नाम यम भी है क्योंकि वही सब सूर्यादि लोकों को नियम में रखने वाला है । और शरीर से भिन्न जीवात्मा अत्यन्त हलका हो जाने से वायु द्वारा अन्तरिक्ष में उड़ जाता है क्योंकि जो वस्तु हलका हो जाता है वही ऊपर को चढ़ता है । पीछे कुछ काल तक वायु मण्डल में भ्रमकर अन्न के परमाणुओं के साथ किसी प्रकार का सूक्ष्म शरीर धारण कर पृथिवी पर आता और किसी योनि में अपने कर्मों के अनुकूल जन्म आयु और भोगों को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन् । हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ ८ ॥

प०—संगच्छस्व । पितृभिः । संयमेन । इष्टापूर्त्तेन । परमे । व्योमन् । हित्वाय । अवद्यम् । पुनः । अस्तम् । आऽइहि । संगच्छस्व । तन्वा । सुवर्चाः ॥ ८ ॥

अ०—हे म्रियमाण प्राणिंस्त्वमिदानीम् (पितृभिः ज्ञानिभिः शान्तिशीलैः पुरुषैः साकम् (संयमेन) निजजन्मनि निरन्तरमभ्युस्तेन यमनियमादिना योगाङ्गेन सम्पन्नः (संगच्छस्व) संगतिं

कुरु (अवद्यम्) निन्दितं दुष्टवासनाजन्यं मलिनसंस्कारम् (हित्वाय) परित्यज्य (इष्टापूर्तेन) श्रौतस्मार्त्तकर्मानुष्ठानेन शुद्धसत्त्वः (व्योमन्) व्योमवद्व्याप्ते (परमे) सर्वोत्कृष्टे परमात्मनि (संगच्छस्व) इदानीं संगतिं कुरु । अर्थादधुना प्रयाणकाले मानसध्यानेन परमात्मना साकं संगतो भव (पुनः) पश्चात् प्रयाणादनन्तरं जन्मान्तरे (तन्वा) शरीरेण (सुवर्चाः) शोभनस्तेजस्वी सन् (अस्तम्) गृहम् (एहि) आगच्छ । अस्तमिति गृहनामास्ति निघण्टौ ॥

भा०—प्रयाणकाले मनुष्येण विदुष आहूय तेषां समागमः कार्यस्तदानीं मनस ऐकाग्र्यं विधाय तेभ्यो ज्ञानोपदेशश्च श्राव्यः । मनसि स्थितं दुर्वासनाजन्यं निकृष्टं विचारं त्यक्त्वा पूर्वकृतश्रौतस्मार्त्तशुभकर्मानुष्ठानं स्मृत्वा च परमात्मनो ध्याने मनः स्थाप्यम् । एवं कृते जन्मान्तरे तेजस्विनां विद्यैश्वर्यवतां गृहे सुखसामग्रीसंपन्ने सुखभागेवोत्पद्येतेति सम्भवम् ॥ ८ ॥

भाषार्थः—हे मरण दशा को प्राप्त हुए प्राणी तुम इस समय (पितृभिः) शान्ति शील ज्ञानी पुरुषों के साथ (संयमेन) अपने इस जन्म में निरन्तर अभ्यास किये यम नियमादि योग के अङ्गों से युक्त हुए (संगच्छस्व) संगति करो (अवद्यम्) निन्दित दुष्ट वासनाओं से हुए मलीन संस्कार को (हित्वाय) छोड़ कर (इष्टापूर्त्तेन) श्रौतस्मार्त्तकर्मों के सेवन से शुद्ध बुद्धि को प्राप्त हुए (व्योमन्) आकाश के तुल्य व्याप्त (परमे) सर्वोत्तम परमात्मा में (संगच्छस्व) संग करो अर्थात् इस मरण समय में मानसध्यान से परमेश्वर के साथ मेल करो और (पुनः) पीछे मरने पश्चात् दूसरा जन्म लेने पर (तन्वा) शरीर से (सुवर्चाः) अच्छे तेजस्वी हुए (अस्तम्) घर को (एहि) आओ ॥

भा०—मरण समय मनुष्य को चाहिये कि विद्वानों को बुला कर उन से समागम करे । उस समय मन को एकाग्र करके ज्ञानी लोगों से ज्ञान का उपदेश

सुने । दुष्ट वासनाओं से हुए मन में स्थित अपने नीच मलीन विचार को छोड़ कर और पहिले सेवन किये श्रौतस्मार्त कर्मों का स्मरण कर के परमेश्वर में मन लगावे । ऐसा करने से जन्मान्तर में विद्या और धनादि करके सम्पन्न और तेजस्वी सुख की सामग्री से युक्त पुरुषों के घर में सुख भोग सहित उत्पन्न हो ऐसा सम्भव है ॥८॥

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् । अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ९ ॥

प०—अपेत। वीत। वि, च । सर्पत। अतः । अस्मै। एतम् । पितरः। लोकम् । अक्रन् । अहोभिः। अद्भिः। अक्तुभिः। व्यक्तम् । यमः। ददाति। अवसानम् । अस्मै॥ ९ ॥

अ०—प्राणनिस्सरणसमये प्रायः सन्निकर्षवासिनो जना म्रियमाणं द्रष्टुमेकीभवन्ति तदा तत्रस्था मेधाविन एवं वदन्तु —हे द्रष्टारो जना यूयमिदानीम्—(अतः) (अपेत) इतो मृतसमीपाद् दूरं गच्छत (वीत) विशेषेण गच्छत (च) (वि, सर्पत) विशेषतयेतस्ततो गच्छतैतत्सामयिककृत्यमवगच्छत च शोकाकुला वा सर्पत (अस्मै) म्रियमाणाय जन्तवे (पितरः) भूतपूर्वा ज्ञानिजनाः (एतम्, लोकम्) मरणदर्शनम् (अक्रन्) स्वमरणेन निरूपितवन्तः । सर्गारम्भाज्ज्ञानिनोऽपि मरणपरिपाटीं प्रचारितवन्तः । यथा वयं म्रियामहे तथाग्रे जायमाना अपि मरिष्यन्तीति (यमः) सर्वनियन्ता परमेश्वरः (अस्मै) म्रियमाणाय (अहोभिः)

कतिचिद्दिनैः (अक्तुभिः) रात्रिभिश्च(अद्भिः)सर्वकार्यवस्तूनां कारणभूतैर्वीर्यादिरूपेण शरीरकारणैर्वा जलैः (व्यक्तम्) प्रकटम् (अवसानम् अवकाशं स्पष्टं निष्पापं जन्मस्थानादिकम् (ददाति) ददातु [लेट् प्रयोगः] इति प्रार्थयामः ॥

भा०—प्रयाणकाले प्रेतदर्शनाय व्याकुलबुद्धय इष्टमित्रादयः प्रायो जना आयान्ति । तान् प्रति ज्ञानिन उपदिशेयुर्यूयं सर्व-इतस्ततो गच्छतास्य दर्शनेन शोकएव वर्द्धिष्यते । प्रारब्धकर्मानुकूलं सृष्टिक्रमानुकूलं चास्य या गतिर्भवित्र्यासीत्सा भूता । यतो जायमानस्य ध्रुवो नाशो न कश्चित्तस्य वारयितास्ति । सर्वेषामस्माकमपीदृश्येव गतिर्भवित्री तदर्थं धर्मएव मनसः सन्धानमेव परमं कर्त्तव्यं तस्यैव दुःखसागरात्तारणक्षमत्वात् ॥ ९ ॥

भाषार्थः—प्राण निकलते समय मरते हुए को देखने के लिये प्रायः निकट वासी मनुष्य एकत्र होते हैं उन से बुद्धिमान् लोग ऐसा कहें कि हे दृष्टा लोगों तुम इस समय (अतः) यहां से (अपेत) दूर जाओ (वीत) विशेष कर चले जाओ कोई न ठहरो तुम को देखने से और भी उसको शोक होगा कि अब ये सब छूटते हैं (च) और (वि, सर्पत) विशेष कर हट जाओ इस को देखने से तुम को भी शोक अधिक होगा । तुम शोकातुर हो इधर उधर चले जाओ और सामयिक कर्त्तव्य का विचार करो (अस्मै) इस मरने वाले प्राणी के लिये (पितरः) पूर्वज ज्ञानी लोगों ने (एतम्, लोकम्) इस मरण दर्शन को (अक्रन्) अपने मरने से नियत किया है अर्थात् सृष्टि के आरम्भ से ज्ञानी लोग भी मरते आये कि जैसे हम मरते हैं ऐसे आगे होने वाले भी मरेंगे सो यह परम्परा बराबर चल रही है कोई नई बात नहीं है (यमः) सब का नियन्ता परमेश्वर (अस्मै) इस मरते हुए प्राणी को (अहोभिः) कई दिन (अक्तुभिः) वा रात्रियों में (अद्भिः) सब बनावटी पदार्थों के कारण वा वीर्यादि रूप से शरीर के कारण जलों के साथ (व्यक्तम्) प्रकट (अवसानम्) पाप वा दुःखादि से रहित जन्म वा स्थानादि और भोग (ददाति) देवे ऐसी प्रार्थना हम लोग करते हैं ॥

भा०—मरते समय प्रेत को देखने के लिये व्याकुल बुद्धि वाले इष्ट मित्रा-दि प्रायः लोग आते हैं उन के प्रति ज्ञानी लोग ऐसा उपदेश करें कि तुम सब इधर उधर जाओ इस को देखने से शोक ही बढ़ेगा प्रारब्ध कर्मों और सृष्टि क्रम के अनुकूल इस को जो गति होने वाली थी सो हुई। क्योंकि उत्पन्न हुआ वस्तु नष्ट अवश्य होता है इस नियम का हटाने वाला कोई नहीं। हम सब लोगों की भी यही दशा होने वाली है इस के लिये धर्म ही में मन को लगाना ही परम कर्त्तव्य है क्योंकि दुःखरूप समुद्र से पार जाने के लिये धर्म ही एक नौका है ॥ ९ ॥

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ १० ॥

अतिद्रव। सारमेयौ। श्वानौ। चतुरक्षौ। शबलौ। साधुना। पथा। अथ। पितॄन्। सुविदत्रान्। उपेहि। यमेन। ये। सधमा-दम्। मदन्ति॥ १० ॥

अ०—हे मरणावसरं प्राप्त जन्तो (सारमेयौ) सारेण सुख दुःखरूपेण फलेनानुमातुं योग्यौ [सारमेयशब्दस्यायमर्थः स्वर-तोऽपि सम्भवत्येव तथा च समासस्येत्यन्तोदात्तत्वम्। सरमा काचिद्देवशुनीति सायणस्तस्या अपत्यभूताविति ढक्। सरमा कश्यपस्य पत्नीति कोशेषु। सरमा नाम काचिद्राक्षसी हृतायाः सीतायाः सान्निध्ये रावणेन नियोजिता सा च तदानीं जनका-त्मजायाः सखीभावमापन्नासीदिति वाल्मीकीयरामायणस्य युद्ध-काण्डे स्पष्टम्। एवं सति सायणेन देवशुनी कुतो गृहीतेति न

ज्ञायते । पूर्वमीमांसाप्रमाणादप्येतद्विरुध्यते तत्र च कस्यचिदप-त्यादेर्वर्णनं प्रतिषिद्धम् । यदि वेदे तत्स्यात्तर्हि वेदानां नित्यत्वं नोपपद्येतेति "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्र" मित्यत्र स्पष्टं वर्णितमस्ति तस्मात्सारमेयशब्दार्थे सायणस्य प्रमादएवात्रानुमेयः] (शबलौ) नानाप्रकारकौ नानारूपौ कर्बुरवर्णौ जन्तूइव (चतुरक्षौ) चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षा अक्षाणि रथचक्राणीव ययोस्तौ धर्मादीनाश्रि-त्यैव शुभाशुभकर्मणी आचरितुं जनः प्रवर्त्तते । अक्षशब्दः को-शेषु चक्रस्यापि नामास्ति (श्वानौ) वासनारूपेण फलोन्मुखतया वर्त्तमानौ शुभाशुभकर्मविशेषौ (अतिद्रव) अतिक्रम्य गच्छार्थात् (साधुना) सत्येन परमात्मध्यानरूपेण (पथा) मार्गेण याहि प्राणांस्त्यक्त्वा गच्छ (अथ) अनन्तरमिदं शरीरं विहाय (ये) (य-मेन) सर्वनियन्त्रा परमेश्वरेण (सधमादम्) सहानन्दम् (म-दन्ति) प्राप्नुवन्ति परमात्मध्यानेन सर्वदुःखानि जहति तान् (सुविदत्रान्) सुष्ठुभिज्ञान् (पितॄन्) ज्ञानिनो विदुषः (उपेहि) मनसा प्राप्नुहि तेषु मनसो योजनेन शोको निवर्त्स्यति ॥

भा०--प्रयाणकाले मनुष्येण भोगोत्कण्ठा विशेषतस्त्याज्या। यः सांसारिकसुखभोगमिच्छति तेन भोगाभिलाषेण सहैव दुः-खभोगोऽप्यनुभावनीयः । तदानीं भोगान् स्मरता परमात्मनः स्मरणमपि न कर्त्तुं शक्यं सत्सु भोगाभिलाषेषु दुःखसागरे निम-ज्जनमेव भवति तस्मात्तदानीं पुण्यपापवासनां विहाय भूतपूर्व-जीवन्मुक्तविरक्तज्ञानिपुरुषस्मरणपूर्वकं परमात्मनएव स्मरणं का-र्यम् ॥ १० ॥

भाषार्थः—हे मरण समय को प्राप्त प्राणी (सारमेयौ) कर्मों के साररूप सुख दुःख फल से अनुमान करने योग्य [सारमेय शब्द का यह अर्थ स्वर के अ-नुसार भी ठीक ही है क्योंकि (समासस्य) इस व्याकरण के सूत्र से अन्तोदात्त

स्वर होता है । इस पर सायणाचार्य ने लिखा है कि सरमा नामक देवताओं की कुतिया के पुत्र दो कुत्तों का नाम सारमेय है । कोष में लिखा है कि कश्यप की स्त्री का नाम सरमा था उस के पुत्र का नाम सारमेय है । और वाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्ड में लिखा है कि सरमा नाम वाली एक राक्षसी रावण के यहां रहती थी जब रावण सीता जी को लङ्का में ले गया तब उस ने सरमा राक्षसी को सीता जी के पास रहने को नियत किया वह सीता की सखी थी। इत्यादि प्रकार जब कई का नाम सरमा था तो सायणाचार्य ने देवताओं की कुतिया कहां से ली ? यह नहीं जान पड़ता । और पूर्व मीमांसा शास्त्र में लिखा है कि वेद के मन्त्रस्थ पदों का सामान्य यौगिक अर्थ प्रकृति प्रत्यय के सम्बन्ध से जो निकलता है वही मुख्य मानना चाहिये ऐसा मानने से वेद में अनित्य होने का कोई दोष नहीं आ सकता । और यदि योगरूढ वा रूढि अर्थ मात्र लौकिक शब्दों के समान किया जावे तो किसी निज मनुष्य का वा किसी के पुत्रादि का वर्णन होने से वेद का नित्य मानना असम्भव है इस लिये सारमेय शब्द का यौगिकार्थ पूर्व लिखे अनुसार मीमांसा शास्त्र के (परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्) सूत्र के अनुकूल है इसी के अनुसार सायणाचार्य का किया अर्थ शास्त्र से विरुद्ध है वह प्रमाद से किया जान पड़ता है] । (शबलौ) कबरे दो जन्तुओं के तुल्य नाना प्रकार के रूपों वाले (चतुरक्षौ) धर्म अर्थ काम और मोक्ष रूप ही चार जिन की प्रवृत्ति के कारण पहिये के तुल्य हैं [क्योंकि शुभ अशुभ कर्मों के आचरण करने को धर्मादि के आश्रय से ही मनुष्य प्रवृत्त होता है अर्थात् धर्म और मोक्ष को प्राप्त होने की इच्छा से प्रायः मनुष्य शुभ कर्म करना चाहता है और अर्थ-धनादि तथा काम–स्त्री आदि के भोग के आधीन हो कर शुभ अशुभ दोनों कर्म करता है परन्तु अशुभ कर्म प्रायः अर्थ और काम के आधीन होने से होते हैं इस का अभिप्राय यह नहीं है कि अर्थ काम के आधीन हो कर अशुभ कर्म करना चाहिये किन्तु लोभादि के बढ़ने से मनुष्य करता है सो बुरा है अर्थात् धर्मादि के आश्रय से दोनों प्रकार के कर्म होते हैं यह सिद्धानुवाद सम्बन्धी कथन है किसी प्रकार का विधि निषेध नहीं है । अक्ष शब्द कोशों में चक्रनाम पहिये वाचक भी आता है इस लिये ऐसा अर्थ किया गया] । (श्वानौ) वासनारूप से संचित फल की ओर झुकने से बढ़ने हुए शुभ अशुभ कर्मों को (अतिद्रव) छोड़

कर शरीर से निकलो अर्थात् (साधुना) परमेश्वर के ध्यान रूप सत्य (पथा) मार्ग से प्राण छोड़ कर जाओ (अथ) और इस के पश्चात् इस शरीर को छोड़ कर (वे) जो (यमेन) सर्व नियन्ता परमेश्वर के साथ (सधमादम्) (मदन्ति) आनन्द को प्राप्त हुए हैं अर्थात् जिन्हों ने परमात्मा के ध्यान से सब दुःखों को छोड़ दिया है उन (सुविदत्रान्) सुन्दर विचार शील ज्ञानी (पितॄन्) पूर्वज विद्वानों का (उपेहि) मन से स्मरण करो अर्थात् इस समय में उन ज्ञानी लोगों में मन लगाने से शोक निवृत्त होगा ॥

भा०—मरते समय मनुष्य को भोग की अभिलाषा विशेष कर छोड़ देनी चाहिये। जो संसारी सुख भोगों को चाहता है उस भोग की अभिलाषा के साथ दुःख का भोग भी आ जाता है। मरते समय भोगों का स्मरण रखने से परमेश्वर का स्मरण भी नहीं कर सकता क्योंकि मन एक ही ओर लग सकता है। और भोग की अभिलाषाओं के उस समय बने रहने से दुःखसागर में ही डूबता है इस लिये उस समय पर पुण्य पाप की वासनाओं को छोड़ कर पहिले हुए जीवन्मुक्त विरक्त ज्ञानी पुरुषों का स्मरण करने पूर्वक परमात्मा का स्मरण करना चाहिये। एक साथ परमेश्वर के ध्यान में चित्त लगना कठिन है इस लिये परमेश्वर का ध्यान करने के अर्थ पहिले विरक्त ज्ञानी लोगों का स्मरण करे जिस से चित्त एकाग्र हो जावे। यही अभिप्राय (वीतरागविषय वा चित्तम्) इस योग के सूत्र का है ॥ १० ॥

यौ ते श्वानौ रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनं परिदेहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥ ११ ॥

यौ। ते। श्वानौ। रक्षितारौ। चतुरक्षौ। पथिऽरक्षी। नृचक्षसौ। ताभ्याम्। एनम्। परिदेहि। राजन्। स्वस्ति। च। अस्मै। अनमीवम्। च। धेहि ॥ ११ ॥

अ०—पुनरुपदेशकः परमात्मानं प्रार्थयति-हे (राजन्) सर्वस्वामिन्परमेश्वर (यौ) (ते) त्वया नियतौ (रक्षितारौ) संसारदशायां जीवात्मनः स्थितिकारकौ (पथिरक्षी) पुनःपुनर्जन्ममरणरूपमार्गे प्राणिनो गमनागमनहेतुकौ (नृचक्षसौ) नृभ्यो मनुष्येभ्यः सुखदुःखफलस्य दर्शकौ दर्शयितारौ (चतुरक्षौ) उक्तप्रकारेण चतुष्पादौ (श्वानौ) सञ्चितदशायां वर्द्धमानौ शुभाशुभकर्मविशेषौ स्तः (ताभ्याम्) (एनम्) प्राणिनम् (स्वस्ति) कल्याणरूपं निर्दुःखं फलम् (परिदेहि) परितः सर्वतो देहि (च) पुनः (अस्मै) प्राणिने (अनमीवम्) रोगाभावेन जायमानं सुखम् (च) अपि (धेहि) ॥

भा०—मनुष्यस्य शुभाशुभकर्माण्येव जगति मुहुर्मुहुर्जन्ममरणे कारयन्ति। अतएवेमानि संसारमार्गस्य रक्षकानीत्युच्यते। एतान्येव सुखदुःखरूपाणि जात्यायुर्भोगफलानि दर्शयन्ति। अतएवोक्तमुपनिषदि—क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर इति। तदर्थं प्रयाणकाले शुभाशुभकर्मफलभोगवासनां विहाय परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासना मुमूर्षुणा कार्याः। येनाग्रेपि कल्याणं स्यादिति ॥११॥

भाषार्थः—फिर भी उपदेशक ज्ञानी पुरुष परमेश्वर की प्रार्थना करे कि हे (राजन्) सब के स्वामी परमात्मन् (यौ, ते) जो तुमने नियत किये (रक्षितारौ) संसार दशा में जीवात्मा को स्थित रखने वाले (पथिरक्षी) बार २ जन्ममरणरूप मार्ग में प्राणी के जाने आने के कारण (नृचक्षसौ) मनुष्यों के लिये सुखदुःखरूप फल के दिखाने वाले (चतुरक्षौ) धर्मार्थ काम और मोक्षरूप चार पगों वाले (श्वानौ) सञ्चित दशा में बढ़ते हुए शुभ अशुभ कर्म विशेष हैं (ताभ्याम्) उन से (एनम्) इस प्राणी को (स्वस्ति) दुःखरहित कल्याणरूप फल (परिदेहि) सब प्रकार से देवो (च) इस के पश्चात् (अस्मै) इस प्राणी

के लिये (अनमीवम्) रोग के अभाव से होने वाले सुख को (च) भी (धेहि) पुष्ट करो ॥

भा०—मनुष्य को शुभ अशुभ कर्म ही जगत् में बार २ जन्म मरण कराते हैं। इसी से ये कर्म संसाररूप मार्ग के रक्षक कहे जाते हैं। ये कर्म ही जाति अवस्था और भोगरूप सुख दुःख फलों को दिखाते हैं। इसी लिये उपनिषद् में कहा है कि इस मनुष्य के कर्म परमेश्वर का ज्ञान हो जाने से क्षीण हो जाते हैं। इस लिये मरते समय शुभ अशुभ कर्म फलों के भोग की वासना को छोड़ कर परमेश्वर की ही स्तुति प्रार्थना और उपासना मरने वाले को करनी चाहिये जिस से आगे भी कल्याण होवे ॥ ११ ॥

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥१२॥

उरूणसौ। असुतृपौ। उदुम्बलौ। यमस्य। दूतौ। चरतः। जनान्। अनु। तौ। अस्मभ्यम्। दृशये। सूर्याय। पुनः। दाताम्। असुम्। अद्य। इह। भद्रम् ॥ १२ ॥

प०—पुनरपि तयोरेव कर्मणोर्वर्णनमाह (उरूणसौ) उरुभिर्बहुप्रकारैः कुटिलगामिनौ। णस कौटिल्य इत्यस्माद्धातोः पचाद्यच् (असु तृपौ) असूनां प्राणानां तर्पकौ। इगुपधलक्षणोऽत्र कः प्रत्ययः (उदुम्बलौ) उत्कृष्टं उम्—स्वीकरणमुदुम्—तदेव बलं ययोस्तौ। संसारदशायां बन्धने प्रबलावित्यर्थः। उमित्यव्ययं स्वीकारे कोशेषु (यमस्य) सर्वनियन्तुः परमात्मनः (दूतौ) दूताविव कार्यसाधकौ साक्षिणाविति यावत्। यथा राजा दूतोक्तवृत्तं बुद्ध्वा तदनुकूलमेव कार्यं करोति तथैवेश्वरो वासनारूपेण सञ्चितानि कर्माणि पुरस्कृत्य

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ४ | तारीख १५ फरवरी—माघ संवत् १९४७ | अङ्क ६

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त १४ का शेष अर्थ

शुभाशुभफलं सर्वस्मै प्रयच्छति । तावेवम्भूतौ शुभाशुभकर्मविशेषौ (जनाँ, अनु, चरतः) जीवने मरणे च सर्वावस्थासु जीवात्मनां पश्चाद्गच्छतः । एतदाश्रित्यैव धर्मशास्त्रेऽप्युक्तम्—मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ । विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति। (तौ, अस्मभ्यम्) (अद्य) इदानीम् (सूर्याय, दृशये) सूर्यं द्रष्टुम् (इह) संसारे (भद्रम्) कल्याणजनकम् (असुम्) प्राणम् (पुनः) पुनर्जन्मनि (दाताम्) दत्ताम् । अर्थाद्द्वयोः कर्मणोर्मध्ये शुभस्य प्राबल्यं स्याद्येन जात्यायुर्भोगाः सुखफला मह्यं स्युरिति म्रियमाणः परेशं प्रार्थयेत् ॥

भा०—यथा लोके केनचित्किमपि पापं क्रियते तदा कश्चिदुपद्रष्टा न्यायाधीशाय साक्ष्यं ददाति । अनेनेदमित्थं कृतमिति

तथैव परमात्मनः समीपे संचितानि कर्माण्येव साक्ष्यं ददति । तदनुकूलमेव सर्वस्मै स फलं प्रयच्छति। कर्माण्येव मुहुर्मुहुर्जन्ममरणे कारयन्ति। तानि कर्माणि मनुष्यस्य कल्याणकराण्येव स्युरिति सदा मनसि रक्षणीयं येन शुभस्यैवाचरणं स्यात् ॥१२॥

भाषार्थः—फिर भी उन दोनों प्रकार के कर्मों का ही वर्णन करते हैं—(उरूणसौ) बहुत प्रकारों से टेढ़े चलने वाले (असुतृपौ) भोग प्राप्त करा के प्राण तथा इन्द्रियों को तृप्त करने वाले (उदुम्बलौ) मनुष्य को संसार दशा में बद्ध रखने वाले (यमस्य) सब के नियन्ता परमेश्वर के (दूतौ) दूतों के तुल्य साक्षी अर्थात् जैसे राजा दूत के कहे वृत्तान्त को जान कर उसी के अनुकूल काम करता है वैसे ही ईश्वर वासनारूप से संचित कर्मों को सामने रख के सब को अच्छा बुरा यथायोग्य फल देता है । वे ऐसे शुभ अशुभ कर्म (जनां, अनु, चरतः) जीवन वा मरण सब दशाओं में जीवात्माओं के पीछे चलते हैं । इसी वेद के आशय को लेकर धर्मशास्त्र में भी कहा है कि मरे हुए शरीर को जला कर वा फेंक कर सब कुटुम्बी लौट आते हैं परन्तु धर्म वा अधर्म उस के साथ चल देता है अर्थात् संसार का कोई पदार्थ मनुष्य के साथ नहीं जाता केवल धर्माधर्म जाते हैं (तौ, अस्मभ्यम्) वे दोनों शुभाशुभ कर्म हमारे लिये (अद्य) इस मरण समय में (सूर्याय, दृशये) सूर्य को देखने के लिये (इह) इस जगत् में (भद्रम्) कल्याणकारी (असुम्) प्राण वा इन्द्रियादि को (पुनः) अगले जन्म में (दाताम्) देवें। अर्थात् दोनों प्रकार के कर्मों में शुभ की प्रबलता हो जिस से मेरे लिये जन्म अवस्था और भोग सुखकारक मिलें इस प्रकार मरने वाला परमेश्वर की प्रार्थना करे ॥

भा०—जैसे लोक में कोई किसी प्रकार का पाप करता है तब उस का कोई साक्षी राजा के पास साक्ष्य देता है कि इसने ऐसा काम इस प्रकार किया है उस के अनुसार राजा न्याय करता है । वैसे ही परमेश्वर के समीप संचित कर्म ही साक्षी देने वाले हैं उन्हीं कर्मों के अनुसार वह सब को अच्छा बुरा फल देता है । कर्म ही वार२ मनुष्य के जन्म मरण कराते हैं । वे कर्म मनुष्य के लिये कल्याणकारी हों इस प्रकार का विचार सदा मन में रखना चाहिये जिस से शुभ कर्मों का ही सेवन हो अशुभ से बचता रहे ॥ १२ ॥

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः॥१३॥
यमाय । सोमम् । सुनुत । यमाय । जुहुत । हविः । यमम् । ह । यज्ञः । गच्छति । अग्निऽदूतः । अरम्ऽकृतः ॥ १३ ॥

भ०—इदानीं नृमेधमुपदिशन्नाह—हे प्रेतसम्बन्धिनो मनुष्या यूयम् (यमाय) वायवे वायोरनुलोमभावाय [यमेन वायुनेति मन्त्रान्तरप्रामाण्याद्यमशब्देन वायुर्गृह्यते] (सोमम्) सोमौषधिम् (सुनुत) सम्पादयत तस्य रसं होमाय निस्सारयत (यमाय) वायवे (हविः) होतुमर्हं वस्तु (जुहुत) अग्नौ प्रक्षिपत (ह) यतःकारणात् (अग्निदूतः) अग्निर्दूतो देशान्तरप्रापको यस्य सः (अरंकृतः) अतएवालङ्कृत आग्नेयतेजोधारित्वाच्छोभितः (यज्ञः) यज्ञान्निष्पन्नः परिणामः (यमम्) वायुमेव (गच्छति) येन प्रेतकारणाद्वायोः प्रतिलोमो न जायते ॥

भा०—यदा कश्चिन्म्रियते तदा तस्य शरीरदाहे सोमाद्योषधिघृतादिसामग्र्या होमः कार्यः। श्मशानतः प्रत्यावृत्य तस्मिन्नेवाहनि दिनान्तरे वा शुद्धिदिवसमुद्दिश्य वस्त्रपात्रगृहशरीरादीनां यथार्हं शुद्धिं विधाय तैरेव होमद्रव्यैर्गृहेऽपि होमः कार्यः। यत्र कश्चिन्म्रियते तत्रस्थो वायुः प्रतिकूलः प्राणघातको भवति। एवंकृतेऽन्येषां मरणभयं न जायते। विकृते च प्राणनाशके वायौ विसूचिकादीनामाविर्भावाद्बहूनां क्षयसम्भवः। तस्माद्वायोरनुलोमाय श्मशाने गृहे च होमः कार्यः ॥ १३ ॥

भावार्थः—नृमेधयज्ञ का उपदेश करते हैं कि हे प्रेत अर्थात् मरे हुए के सम्बन्धी लोगो तुम (यमाय) वायु के अनुकूल होने के लिये [यमेन० । इस ऋग्वेद के मन्त्र में वायु को यम कहा गया है इसी प्रमाण से यम शब्द कर के यहां वायु का ग्रहण किया गया है । और अन्तरिक्षस्थानी देवता वायु है उस में सब लोक लोकान्तरों को अपनी २ परिधि में नियत रखने रूप शक्ति होने से उस का यम नाम हुआ है] (सोमम्) सोम नामक ओषधि को (सुनुत) सिद्ध [तयार] करो अर्थात् होम के लिये उस का रस निकालो तथा (यमाय) वायु को अनुकूल करने के लिये (हविः) होमने योग्य वस्तु को (जुहुत) अग्नि में छोड़ो क्योंकि (यतः) जिस कारण (अग्निदूतः) जिस को देशान्तर में पहुंचाने वाला अग्नि है ऐसा (अरङ्कृतः) अग्नि सम्बन्धी तेज का धारण करने से शोभा को प्राप्त हुआ (यज्ञः) यज्ञ का फल (यमम्) वायु को ही (गच्छति) प्राप्त होता है इसी से प्रेत के मरने पर वायु ठीक रहता है ॥

भा०—जब कोई मनुष्य मरे तब उस के शरीर को जलाने में सोमादि पुष्ट ओषधि और घी आदि सामग्री से होम करना चाहिये इसी का नाम पितृमेध है । श्मशान—मर्घटभूमि से लौट कर उसी दिन वा शुद्धि के लिये नियत किये अन्य दिवस में वस्त्र, पात्र घर और शरीरादि की यथायोग्य शुद्धि करके उन्ही होमने योग्य वस्तुओं से घर में भी होम करना चाहिये । जहां कोई मर जाता है वहां का वायु मनुष्य की स्वस्थता को बिगाड़ने वाला प्रतिकूल प्राणों का नाशक हो जाता है और होम तथा शुद्धि के ठीक २ हो जाने से वही वायु प्राण रक्षक हो जाता है । ऐसा करने से अन्यों के मरने का भय नहीं रहता और होम वा शुद्धि न की जाय तो प्राणनाशक वायु के विकारी हो जाने से विसूचिकादि रोगों के प्रकट होने से बहुतों का प्राण जाना सम्भव है इस कारण वायु को अनुकूल करने के लिये श्मशान और घर में होम अवश्य करना चाहिये ॥ १३ ॥

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वायमद्दीर्घमायुः प्रजीवसे ॥१४॥

प०—यमाय । घृतवत् । हविः । जुहोत । प्र । च । तिष्ठत । सः । नः । देवेषु । आयमत् । दीर्घम् । आयुः । प्रऽजीवसे ॥ १४ ॥

अ०-हे प्रेतस्य हितं चिकीर्षवो मनुष्या यूयम् (यमाय) सर्वनियन्त्रे न्यायाधीशाय परमात्मने तदाज्ञापालनेन तत्प्रसादाय (घृतवत्) घृतं विद्यतेऽस्मिंस्तत् (हविः) होतुमर्हं द्रव्यम् (जुहोत) जुहुत । तप्तनप्तनथनाश्चेति तबादेशस्तेन पित्वाद्गुणः (च) अपि (प्र,तिष्ठत) उपतिष्ठत मृतप्राणिनः कल्याणं स कुर्यादिति प्रार्थयत च (सः) यमः परमेश्वरः (प्रजीवसे) उत्कर्षेण सह जीवनाय (नः) अस्माकं सम्बन्धिनो मृतस्य पुरुषस्य जन्मान्तरे (देवेषु) विद्याधर्मादिभिः सम्पन्नेषु पित्रादिषु (दीर्घम्,आयुः) (आयमत्) ददातु। इत्येवं तस्योपस्थानं कुरुतेति पूर्वेणान्वयः ॥

भा०—श्मशानभूमौ प्रेतदाहकाले होमेन सहैव प्रेतस्य सम्बन्धिपुरुषैः परमात्मा प्रार्थनीयः-हे सर्वस्वामिन् मृतस्यैतस्य पुरुषस्य विद्याधनधर्माद्यैराढ्येषु योगिनां ज्ञानिनां वा कुलेषु सुखेन बहुकालं जीवनाय जन्म ददातु ॥ १४ ॥

भाषार्थः-हे मरे हुए प्राणी का हित चाहने वाले मनुष्यो तुम लोग (यमाय) सर्वनियन्ता न्यायाधीश परमेश्वर की आज्ञा पालन करके उस को प्रसन्न करने के लिये (घृतवत्) घी से मिले हुए (हविः) होमने योग्य वस्तु का (जुहोत) होम करो (च) और (सः) वह सर्वनियन्ता परमेश्वर (प्रजीवसे) उत्तमता के साथ जीवन होने के लिये (नः) हमारे मरे हुए पितादि सम्बन्धी पुरुष का जन्मान्तर में (देवेषु) विद्या और धर्मादि से युक्त आनन्दित पिता मातादि के बीच (दीर्घम्, आयुः) बड़ी अवस्था को (आयमत्) देवे (प्र, तिष्ठत) ऐसी प्रार्थना परमेश्वर से करो ॥

भा०—मरघट भूमि में प्रेत को जलाते समय होम के साथ ही प्रेत के सम्बन्धी पुरुष परमेश्वर की प्रार्थना करें कि हे सब के स्वामी परमेश्वर इस मरे हुए पुरुष का विद्या, धन और धर्मादि से प्रकाशमान योगी वा ज्ञानी पुरुषों के कुलों में सुख पूर्वक बहुत काल तक जीवने के लिये जन्म दीजिये ॥ १५ ॥

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ १५ ॥

यमाय। मधुमत्ऽतमम्। राज्ञे। हव्यम्। जुहोतन। इदम्। नमः। ऋषिभ्यः। पूर्वजेभ्यः। पूर्वेभ्यः। पथिऽकृत्भ्यः ॥ १५ ॥

अ०—हे मनुष्या यूयम् (राज्ञे) राजमानाय (यमाय) परमेश्वराय (मधुमत्तमम्) सर्वविधक्षारकटुतिक्तादिवर्जितमतिशयितमिष्टरससम्पन्नम् (हव्यम्) होतुं योग्यं स्थालीपाकादिकम् (जुहोतन) उक्तसूत्रेणात्र तनप् (पूर्वजेभ्यः) पूर्वकाले उत्पन्नेभ्योऽतएवास्मत्तः (पूर्वेभ्यः) (पथिकृद्भ्यः) धर्ममार्गप्रवर्त्तकेभ्यः पुरुषेभ्यः (ऋषिभ्यः) वेदविद्भ्यो मृतेभ्यः सद्गतिं गतवद्भ्यः (इदम्) अस्माभिः कृतम् (नमः) नमनमस्तु ॥

भा०—प्रेतदाहावसरे परमात्मप्रार्थनानन्तरं प्रेतसम्बन्धिभिर्जनैः पूर्वजानां मृतानां महात्मनामपि स्मरणं कार्यम्। एवं भूते समये भूतपूर्वाणां मृतानां स्मरणं स्वतोऽप्यायाति। तेषां स्मरणेन स्वस्य चेतो व्यवस्थापनीयम्। पूर्वजाएवं धर्मात्मानो धन्या यशस्करा विद्वांसो बभूवुर्येन तानद्यावधि जनाः प्रशंसन्ति। तस्मात्तेभ्योऽस्माकं नमोऽस्तु। अस्माभिरपि तथैवाचरितव्यं पूर्वजवदस्माकमपि मरणं तु ध्रुवमेव भविष्यति पुनः किमर्थं पापभार उत्थापनीयइति ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो तुम लोग (राज्ञे) प्रकाशमान सब के राजा (यमाय) परमेश्वर के लिये (मधुमत्तमम्) सब प्रकार के खारी कड़ुए और तीखेपन से रहित अत्यन्त मीठे रस से युक्त (हव्यम्) होमने योग्य बटलोई आदि में पकाये वस्तु का (जुहोतन) होम करो (पूर्वजेभ्यः) पूर्वकाल में हुए इसी कारण हम से (पूर्वेभ्यः) पूर्वज (पथिकृद्भ्यः) धर्मसम्बन्धी मार्ग वा परिपाटी के चलाने वाले

(ऋषिभ्यः) मर कर सद्गति को प्राप्त हुए वेद को जानने वाले पुरुषों के लिये (इदम्) हमने किया यह प्रत्यक्ष (नमः) नमस्कार प्राप्त हो ॥

भा०—मरे हुए प्रेत नामक शरीर को जलाने के समय परमात्मा की प्रार्थना करने पश्चात् प्रेत के सम्बन्धी पिता पुत्र भाई आदि को चाहिये कि पहिले सृष्टि में होकर मर गये महात्मा लोगों का भी स्मरण करें ऐसे समय में मरे हुए पूर्वजों का स्मरण स्वयं भी आजाता है उन के स्मरण से अपना चित्त सावधान करना. चाहिये कि वे महात्मा कैसे दृढ़ थे जो विपत् समय में व्याकुल नहीं होते थे सदा धर्म में ही निष्ठा रखते थे। अनेक लोग संसारी सुखभोग साधन के धनादि पदार्थों का अधर्म से सञ्चय करते हैं मरते समय वे सब पदार्थ यहीं पड़े रहते हैं एक भी कुछ सहायता नहीं करता किन्तु धर्म अधर्म साथ जाता है इस कारण उन्हीं लोगों के तुल्य हम को भी अधर्म छोड़ कर केवल धर्म का सेवन करना चाहिये । पूर्वज लोग धन्यवाद के योग्य कीर्त्ति के काम करने वाले विद्यावान् धर्मात्मा हुए जिस कारण उन की आज तक लोग प्रशंसा करते हैं इस लिये उन को हमारा नमस्कार है । हम को भी वैसा ही आचरण करना चाहिये क्योंकि पूर्वज लोगो के तुल्य हम को भी मरना तो निश्चित है फिर किस लिये पाप की गठरी बांध कर ले चलें ॥१५॥

त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद्बृहत्। त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥ १६ ॥

त्रिकद्रुकेभिः । पतति । षट् । उर्वीः । एकम् । इत् । बृहत् । त्रिष्टुप् । गायत्री । छन्दांसि । सर्वा । ता । यमे । आहिता ॥१६॥

अ०—उपात्तं कलेवरं विहाय जीवात्मा (त्रिकद्रुकेभिः) कुत्सितं रौति विरुद्धं परुषमनृतं वा विलपति यैस्ते कद्रुका रागद्वेषमोहाख्या दोषास्त्रयएव कद्रुकास्त्रिकद्रुकास्तैः [रुधातोरौणादिकः

कक् प्रत्ययः कित्त्वाद्गुणाभावः] सह (षट्) (उर्वीः) भूमीरवस्था-इव मनःषष्ठानीन्द्रियाणि (पतति) पुनर्जन्मनि प्राप्नोति (एक-मित्) एकमेव (बृहत्) नानायोनिसमाकुलत्वान्महज्जगत् दो-षानुगो देही पततीति पूर्वेण सम्बन्धः । उक्तं जगत् (त्रिष्टुप्, गायत्री) इत्येवमादीनि (छन्दांसि) सर्वे वेदमन्त्राश्च स्तुतिसाधनाः (यमे) सर्वनियन्तरि परमात्मनि (सर्वा, ता) सर्वाणि तानि (आहिता) आहितानि व्यवस्थितानि सएव सर्वाधारइति । शे-श्छन्दसि बहुलमिति जसःस्थानिनः शेर्लुग् ज्ञातव्यः ॥

भा०—प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाइति न्यायसूत्रम् । दोषा राग-द्वेषमोहाएव प्राणिनं मुहुर्मुहुर्जन्ममरणयोः शुभाशुभफलभोगाय प्रवर्तयन्ति । सत्स्वेव दोषेषु प्रवृत्तिर्भवति सा च जन्मनः कार-णम् । जन्म च दुःखस्येति । क्षीणेषु च दोषेषु प्रवृत्तेरभावाज्ज-न्माभावस्तस्मिन्सति दुःखाभावादपवर्गः । अतः सदोषा म्रियमाणाः पुनः कस्याञ्चिद्योनावुत्पद्यन्ते निर्दोषाश्च मुक्तिमाप्नुवन्ति तस्मा-त्सर्वैर्मनुष्यैश्चतुर्थावस्थायां रागादित्यागायावश्यं प्रयत्नो विधेयः परमात्मा च प्रार्थनीयः । प्रयाणकाले च दृढतरमेतत्कर्त्तव्यं तेन यथासम्भवं तात्कालिकशोकनिवृत्तिरपि सम्भवति ॥१६॥

भाषार्थः—ग्रहण किये वर्त्तमान शरीर को छोड़ कर जीवात्मा (त्रिकद्रुकेभिः) विरुद्ध मिथ्या कठोर और निन्दित विलाप करने के हेतु जो राग द्वेष और मोह नामक तीन दोष हैं उन के साथ में फंसा हुआ (षट्) छः (उर्वीः) पांच ज्ञानेन्द्रिय और छठे मन को (पतति) जन्मान्तर में प्राप्त होता तथा (एकमित्) एक ही (बृहत्) नानाप्रकार के जीव जन्तु जिस में भरे हैं ऐसे जगत् को दोषयुक्त जीवात्मा प्राप्त होता है उक्त जगत् और स्तुति के साधन (त्रिष्टुप्, गायत्री) त्रिष्टुप् और गायत्री आदि सब वेद के मन्त्र (यमे) सब के

नियन्ता परमात्मा में (सर्वा,ता) वे सब (आहिता) व्यवस्थित हैं। अर्थात् वही सब का आधार है ॥

भा०—न्याय सूत्र में लिखा है कि राग द्वेष और मोह नामक तीन दोष ही प्राणियों को वार २ जन्म मरण में शुभ अशुभ भोग कराने के लिये प्रवृत्त करते हैं क्योंकि दोषों के होते ही पाप करने को प्रवृत्त होता है और प्रवृत्ति जन्म का कारण तथा जन्म दुःख का कारण है। दोषों के नष्ट होने पर प्रवृत्ति के न रहने से जन्म नहीं होता और जन्म के न रहने से दुःख छूट जाने पर मुक्ति हो जाती है। इस से मरते समय रागादि दोष युक्त हुए पुरुष फिर किसी योनि में अवश्य उत्पन्न होते हैं और निर्दोष मरने वाले मुक्ति के अधिकारी हो सकते हैं इस से सब मनुष्यों को वृद्धावस्था में रागादि छोड़ने का प्रयत्न और परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना का अभ्यास अवश्य करना चाहिये और मरते समय अवश्य ऐसा करना चाहिये जिस से यथासम्भव उस समय भी शोक की निवृत्ति होसकना सम्भव है ॥ १६ ॥

अब सज्जन विचारशील लोगों को इस मेरे किये और पूर्व लिखित सायणाचार्य जी के अर्थ पर ध्यान देना चाहिये और परस्पर मिला कर देखना चाहिये कि कौन कैसा है । वेद की जैसी प्रतिष्ठा है उस के अनुसार कौन अर्थ है। किस से वेद का गौरव बढ़ता है सृष्टिक्रम और ईश्वर के गुण कर्म स्वभावों से किस अर्थ में कितना विरोध आता है । जब सायणाचार्य भी वेदों को ईश्वरीय वाक्य अनादि अपौरुषेय मानते थे तो उनका अर्थ उन्हीं के सिद्धान्त से विरुद्ध क्यों नहीं हुआ ? । सनातन वेद में पुराण की कथा कैसे हो सकती है ? और किन्हीं निज कुत्ते आदि का नाम कहां से आ सकता है ? । जब वेद के व्यवस्थापक पूर्वमीमांसाकार ऋषि आदि लोग वेद के शब्दों को यौगिक मानते हैं फिर उस से विरुद्धार्थ सायणाचार्य जी ने क्यों किया ? और किया तो विद्वान् लोगों को कैसा मानना चाहिये ? इत्यादि प्रकार का विचार सब बुद्धिमानों को करना उचित है। इस का अर्थ करने से पहिले मैं विशेष अनुसन्धान लिख चुका हूं उस पर भी ध्यान देना चाहिये। अब इस सूक्त पर लिखना समाप्त कर के एक अन्य सूक्त का अर्थ लिखता हूं इस को भी सज्जन लोग विचार करें ॥

अथ ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १० का विचार ॥

अनेक सज्जन पाठक महाशयों को स्मरण होगा कि आर्यसिद्धान्त भाग ३ अङ्क ७ में पादरी विलियम साहब के विषय में कुछ लेख छापा था पादरी साहब को ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त १० पर आक्षेप करने और उसी के साथ स्वामी-दयानन्दसरस्वती जी महाराज पर आक्षेप करने का जो अवसर मिला उस का मूल कारण हमारे ही देशी लोगों के भाष्य हैं । क्योंकि यद्यपि इङ्गलैण्ड देशनिवा-सियों में से किसी २ ने कुछ २ अपनी बुद्धि पर बल देकर भी वेदादि शास्त्रों वा वैदिक सिद्धान्तों पर टीका भाष्य वा लेख किये हैं तो भी प्रायः लोगो के प्रायः लेख इस देश के नवीन भाष्यों को देख कर किये गये हैं । कहीं २ हमारे देशी भाष्यों में कुछ दोष न्यून वा गुप्त हैं तो उन लोगों ने अपनी अङ्गरेजी भाषा में अनुवाद कर उन दोषों को उत्तेजित कर दिया है । और ऐसे लटके से अनेक अनुवाद किये गये हैं कि जिस से उन को देखने वाले वेदों वा अन्य वेदानुयायी सद्ग्रन्थों को घृणा की दृष्टि से देखने लगें । यह बात मैंने अपने अनुभव वा अनुसन्धान से सोची है कि अनुवादकों में से अनेकों का दृढ़ सिद्धान्त भी यही है कि जिस किसी प्रकार वेद और तदनुकूल शास्त्रों की ओर लोगों को वा सर्व-साधारण को घृणा उत्पन्न हो जावे इसी से उन की इष्टसिद्धि है । यूरोपदेश निवासी (यूरोपियन) लोगों में अनेक लोगों की ऐसी दृष्टि नहीं भी है परन्तु उन में भी साधारण व्यवस्था के अनुसार कि जन्म से जिस मत का वा सिद्धान्त का जिन को संस्कार पहुंचाया जाता है उन के आत्मा में वही रंग पक्का चढ़ जाता है और उन के सब काम उसी संस्कार के अनुसार होते हैं इस कारण (यूरोपियन) लोग वेदादि के स्वच्छ पवित्र शास्त्र होने की सम्मति न देकर घृ-णित दृष्टि से देखें और प्रकट करें तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं । उन में जो लोग समझ कर भी अपने भीतरी विचार से विरुद्ध अपने मत की पुष्टि के लिये वेद को निकृष्ट ठहराने की चेष्टा करते हैं वे पक्षपाती हैं । और जो अपने अ-न्तःकरण के विचार सहित ठीक सम्मति देते हैं उन की सम्मति भले ही वह अ-सत्य वा वेद के विषय में हानिकारक हो परन्तु पक्षपात रहित समझनी चाहिये ॥

यद्यपि हम विश्वास नहीं कर सकते कि हमारे देशी भाष्य जो वेद की तुच्छता वा लाघव के कारण बन रहे हैं वे ऐसे न हो कर गौरव के कारण होते

और वेद के अपौरुषेय होने वा अनादि ईश्वर की विद्या होने वा ठहराने के लिये पूर्ण प्रयत्नयुक्त होते तो इङ्गलैण्डदेश निवासी इस वेद को उन टीका वा भाष्यां के अनुसार मान लेते वा पुष्ट करते यह कदापि सम्भव नहीं दीखता तथापि हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इन लोगों को वैदिकमत पर शस्त्र चलाने का ऐसा अवसर न मिलता जैसा कि अब मिल गया इसलिये यह कहना ठीक है कि वेद पर बने देशी लोगो के भाष्य ही उस की तुच्छता वा निकृष्टता के मूल कारण हैं। इस कथन से मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि वे भाष्यकर्त्ता वेदविरोधी थे वा उन का अन्य कोई ऐसा मत था जिस के अनुसार वेद को नीचा दिखाने के अर्थ प्रयत्न किया हो किन्तु यह कहना बन सकता है कि सायणाचार्यादि भाष्यकार वेदमतानुयायी थे और उस को अच्छा मानते थे और वे यह भी नहीं समझे कि वेद पर जो हम भाष्य करते हैं उस से वैदिकमत की कुछ हानि होगी। परन्तु इस के साथ यह भी कह सकते हैं कि उन लोगों के मन में यह भी अङ्कुर स्फुरित नहीं हुआ कि हम ऐसी गम्भीरता वा विचारशीलता के साथ वेद पर भाष्य करें जिस से उस की प्रतिष्ठा के अनुसार गौरव बना रहे और किसी प्रकार की तुच्छता उस से प्रकट न हो वेद पर कोई कलङ्क न लगा सके इत्यादि।

अब यह सिद्ध हो गया कि सायणाचार्य का भाष्य ही पादरी साहब के आक्षेप का मूल कारण था तो हम को यहां सायणाचार्य के भाष्य का अनुवाद नागरीभाषा में दिखाना आवश्यक हुआ कि जिससे पाठकों को सायणभाष्य का आशय स्पष्ट ज्ञात हो जावे। पादरी साहब की ओर से इस सूक्त के अनुसार नियोग व्यवस्था में स्वामीदयानन्दसरस्वती जी पर जो आक्षेप थे उन का उत्तर हम आर्यसिद्धान्त भा० ३ अं० ७ में संक्षेप से लिख चुके हैं इस लिये उन बातों पर कुछ न लिख कर केवल वेद के सूक्त के अर्थ का विवेचन यहां करें गे। इस सूक्त में १४ मन्त्र हैं उन प्रत्येक का सायणभाष्यानुवाद क्रम से नागरी में किया जाता है। मैं यहां प्रत्येक अक्षर का अनुवाद नहीं लिखूंगा किन्तु सायणभाष्य का अभिप्राय मात्र स्पष्ट लिखूंगा॥

भावार्थः—इस सूक्त में विवस्वान् नामक पुरुष के सन्तान यम यमी नामक भाई बहिन का संवाद कहा जाता है। इस पहिली ऋचा में अपने भाई यम के प्रति यमी बोली [अर्थात् प्रसिद्ध जहां किसी प्रकार की आड़ फेंट नहीं ऐसे बड़े विस्तृत समुद्र के एक प्रदेश अर्थात् दोनों ओर जल तथा बीच में रेती खाये हुए एकान्त प्रदेश जहां अन्य कोई लज्जा का कारण मनुष्यादि नहीं ऐसे स्थान में पहुंची हुई यमी] गर्भ से ही जिस के साथ मित्रता थी [अर्थात्, एक साथ गर्भ में रह कर साथ ही उत्पन्न होने वाले दो बालकों को भी संस्कृत में

यम बोलते हैं । प्रयोजन यह है कि वे दोनों विवस्वान् की स्त्री में एक साथ जन्मे थे इसी कारण उन का नाम यम यमी पड़ा] उस की ओर चित्त झुक जाने से जिस को श्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य मानती थी ऐसे यम के साथ सम्भोग पूर्वक मित्रता बढ़ने के लिये सन्मुख स्थित हो लज्जा को छोड़ के तेरे (यम के) साथ संयोग अर्थात् मैथुन करती वा करना चाहती हूं क्योंकि काम का वेग शीघ्रता चाहता है । और हम दोनों के संयोग से होने वाले पुत्र के तुम (यम) को पिता बनाने के लिये सब उत्तमगुणों से युक्त गर्भरूप सन्तान को पृथिवीरूप मेरे गर्भाशय में सब का उत्पादक परमेश्वर धारण करे अर्थात् परमेश्वर की व्यवस्था वा कृपा के विना सन्तानोत्पत्ति नहीं होती । सो हम दोनों का संयोग निष्फल न हो किन्तु परमेश्वर की कृपा से हम दोनों के गुणों वा रूपवाला हमारे सदृश पुत्र होवे अर्थात् यमी ने अपने भाई यम से कामातुर होकर कहा कि यहां एकान्त है मैं तुझ से संयोग करना चाहती हूं उस को ईश्वर सफल करे ॥१॥

यम कहीं झाड़ी आदि में छिप कर वा अन्तर्धान होकर यमी के प्रति बोला कि हे यमी गर्भ से ही एक साथ रहने के कारण तेरा मित्र यम इस तेरे कथनानुकूल स्त्री पुरुष के संयोग से होने वाली मित्रता को नहीं चाहता क्योंकि तू यमी मेरी सहोदर (सगी) बहिन है । तू इस कर्म से भाई बहिन के सम्बन्ध को बिगाड़ना चाहती है । इस से यम इस संयोग को नहीं मांगता । और जो तू यह समझती है कि यहां निर्जन एकान्त देश है इस लिये ऐसे काम करें सो भी ठीक नहीं परमेश्वर की उत्पन्न की सृष्टि यहां भी है उस में जल जन्तु आदि अनेक हमारे कर्म को देखें गे और परमेश्वर स्वयमेव सब में व्याप्त है वह सब के घट २ में अन्तर्यामी होकर साक्षी हो रहा है इस लिये एकान्त देश कोई नहीं जहां मनुष्य पाप करले और कोई देख न पावे ॥ २ ॥

फिर भी यमी यम के प्रति बोली कि हे यम प्रसिद्ध मुक्तदशा को प्राप्त ब्रह्मा आदि इस ऐसे शास्त्र में जिस का निषेध किया कन्या वा भगिनी आदि स्त्रियों के साथ संयोग करने की कामना रखते हैं सब जगत् की अपेक्षा मुख्यता अर्थात् श्रेष्ठता को प्राप्त ब्रह्मा की पुत्री वा भगिनी आदि के साथ संयोग सम्बन्ध हुआ है । अर्थात् यह बहिन भाई का संयोग अनुचित होता तो ऐसे महान् पुरुष वैसा क्यों करते ? । इस कारण तू अपना चित्त मेरे चित्त से मिला अर्थात् हम दोनों का हृदय एकचित्त हो ऐसी मैं कामना करती हूं तू भी वैसी ही चित्त में उत्कण्ठा कर जैसी कि मेरे चित्त में है । और जैसे सब के उत्पादक ब्रह्मा ने पति बन कर अपनी कन्या पुत्री से संयोग किया वैसे तू भी मेरा पति बन कर मेरे साथ सब प्रकार चुम्बनादि पूर्वक संयोग कर ॥ ३ ॥

यमी के उक्त वचनों को सुन कर यम फिर बोला कि अनन्त शक्तिधारी होने से ब्रह्मा ने जो अगम्यागमन [अपनी पुत्री के साथ पहिले सृष्टि के आदि में व्यभिचार] किया वैसा हम नहीं कर सकते। हम सत्य कहते हुए कब वा कैसे निश्चित कहें कि ऐसा करेंगे अर्थात् हम अनुचित वा निषिद्ध नही करेंगे यही हमारा सत्य कहना है। और व्यभिचार का स्वीकार करना ही मिथ्या भाषण है। और अन्तरिक्ष—आकाश के बीच स्थित किरणों का धारण करने वाला सूर्य आकाश में स्थित प्रसिद्ध सूर्य की स्त्री सरण्यू नामक ये दोनो मेरे तेरे पिता माता हैं इन्हीं उक्त दोनो से हम दोनो उत्पन्न हुए हैं। इसी एक माता पिता से उत्पन्न होने के कारण से हम दोनो का बहिन भाई का सम्बन्ध मुख्य वा प्रबल है। ऐसा होने पर हम अगम्यागमनरूप निषिद्ध कर्म विरुद्ध व्यभिचार नहीं कर सकते। इस कारण मैं तेरे साथ संयोग करना नही चाहता ॥ ४ ॥

उक्त प्रकार यम के कथन को सुन कर यमी फिर बोली कि सब प्रकार के रूपधारी वस्तुओं का रचने वाला सब शुभ अशुभ कर्म फलों का दाता सर्वरूपधारी सब में व्याप्त दानादि गुणों से युक्त और सब के उत्पादक ब्रह्मा ने एक उदर में साथ बसाने से गर्भावस्था में ही हम दोनों को स्त्री पुरुष नियत किया था अर्थात् माता के एक उदर में गर्भदशा में ही हम तुम दोनों नगे स्त्री पुरुष के तुल्य संयुक्त रहे यह काम हमारी इच्छा से नहीं था किन्तु विधाता ने एक साथ उत्पन्न कर अपना आशय जताया कि इन दोनो में स्त्री पुरुष का सम्बन्ध रहे। इस लिये इन विधाता के किये नियमों को कोई विचार शील नहीं तोड़ते। इस कारण जब हम दोना का गर्भावस्था में ही प्रजापति ने स्त्री पुरुष भाव नियत कर दिया तो तू मेरे साथ संयोग कर। और हम दोनों के माता के उदर में से एक साथ बसने से होने वाले स्त्रीपुरुषभाव को पृथिवी और स्वर्ग जानता है ॥ ५ ॥

फिर भी यमी बोली कि स्त्री पुरुष के परस्पर किये प्रथम दिन के संयोग को कौन जानता है ? अर्थात् पहिले दिन जो किया जाता है उस को अनुमान मात्र के आश्रय से कोई नहीं जान सकता। और इस प्रदेश में हम दोनां के संयोग को कौन प्रत्यक्ष से देखता है वा कौन प्रकट करता है ? अर्थात् कोई नहीं। सूर्य चन्द्रमा वा मित्र वरुण देवताओं का बड़ा स्थान जो दिन रात हैं

उन में मनुष्यों को नरक के साथ संयुक्त करने वाले तथा प्राणियों के अपने २ किये शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार नरक स्वर्ग प्राप्त करा के सुख दुःख पहुंचाने वाले हे यम ! तू क्या कहता है ? [अर्थात् यह वही यम है जिस को पौराणिक लोग पितृलोक यमपुरी का राजा मानते हैं वह सूर्य का पुत्र था ऐसा पुराणों में लेख है] ॥ ६ ॥

तुझ यम को मुझ यमी के प्रति सम्भोग करने की इच्छा हो किस लिये कि एक शय्या वा खट्वा पर साथ मिल कर सोने वा पड़ने के लिये । ऐसा होने से अपने मनोर्थ को प्राप्त हुई मैं जैसे अपने पति के लिये सर्वोत्तम प्रीति से विश्वास पूर्वक संयोग की अभिलाषा रखने वाली कोई प्रिया स्त्री अपने गुप्त अवयवों को खोल कर दिखाती है वैसे मैं अपने शरीर को तेरे सामने उपस्थित करूं । हम दोनों मिल कर धर्म अर्थ और काम को बढ़ावें अर्थात् इस तीन प्रकार के कृत्य का सांगोपाङ्ग सेवन कर फलभागी हों। जैसे रथ के दो पहियों के आश्रय रथ के चलने का उद्योग बनता है वैसे धर्मादि को चलाने का हम दोनों मिल कर उद्योग करें ॥ ७ ॥

यमी के साथ प्रसिद्ध यम फिर बोला कि इस मृत्यु लोक में देवताओं के सम्बन्धी सब वस्तुओं से स्पर्श करने वाले दिन रात्रि आदि दूत सब प्राणियों के शुभ अशुभ कर्मों को देखने के अर्थ निरन्तर सब ओर से भ्रमण करते हैं । ये दूत भ्रमणक्रिया से रहित क्षणमात्र भी नहीं ठहरते । न कभी ये आंख मीचते हैं अर्थात् जो कोई शुभ वा अशुभ करता है उस को निरन्तर देखते हैं । हे असह्य [कि जिस को मैं नहीं सह सकता] भाषण से मुझ को दुःख देने वाली यमी तू मुझ से भिन्न अपने तुल्य किसी पुरुष के साथ संग कर उसी को पति बना । और पहिये पर रथ के तुल्य उसी पुरुष को द्वितीय पहिया बना कर धर्मादि के भार को ले चल ॥ ८ ॥

दिन और रात्रि के नाम से निकाले भाग को सब यजमान लोग यम के लिये देवें । सूर्य का सम्बन्धी चक्षु का तेज यम के लिये वार २ उदित हो । आकाश पृथिवी से मिले सहोदर (सगे) बहिन भाई दिन रात हैं इस लिये यह यमी यम के द्वितीय भ्राता दिन रूप को यत्न से धारण करे ॥ ९ ॥

जिन समयों में भगिनी लोग भ्राता से भिन्न पुरुष को पति करें गी वे उस प्रकार के समय विशेष आगे आवें गे । जब ऐसा होने वाला है तो हे

सुभगे तू इस समय मुझ से भिन्न अन्य पति की कामना कर अर्थात् भाई का पति बनाना तुझ को पहिले से.ही छोड़ना चाहिये । और इस इच्छा करने पश्चात् तेरी योनि में वीर्य गिराने वा सींचने वाले पुरुष के लिये अपनी बाहु को सोते समय बढ़ा ॥ १० ॥

इस उक्त प्रकार यमने जिस के पक्ष का खण्डन किया ऐसी यमी फिर बोली कि जिस भाई के होने पर जिन का कोई रक्षक नहीं ऐसी अनाथ बहिन आदि हों वह भाई क्या है अर्थात् कुछ भी नहीं और जिस भगिनी के होने पर भ्राता को नियमपूर्वक निरन्तर दुःख मिले वह बहिन भी क्या है अर्थात् कुछ नहीं । भाई बहिन की परस्पर अत्यन्त प्रीति जिस किसी उपाय से अवश्य होनी चाहिये । सो मैं कामदेव के सताने से मूर्छित हुई नानाप्रकार के पूर्वोक्त वा आगे जिन को कहूंगी ऐसे वाक्यों का प्रलाप करती हूं मेरे ऐसे दुःख को जान कर मेरे शरीर के साथ तू अपने शरीर को मिला अर्थात् मेरे साथ तू भोग कर जिस से मेरा दुःख हटे और प्रीति बनी रहे ॥ ११ ॥

फिर यमी के प्रति यम बोला कि हे यमि मैं अपने शरीर को तेरे शरीर के साथ नहीं मिलाना चाहता क्योंकि जो भाई नियम पूर्वक बहिन से सम्भोग करता है उस को शिष्ट लोग पापी कहते हैं ऐसा जान कर हे सुभगे यमि तू मुझ से भिन्न तेरे योग्य अन्य पुरुष के साथ सम्भोग सम्बन्धी आनन्दों को समर्थ कर । और तेरा भाई यम तेरे साथ अर्थात्पतिपत्नीभाव से संयोग मैथुन करना नहीं चाहता । तात्पर्य यह है कि बहिन भाई की बुद्धि से तो तेरे साथ बैठना लेटना भी बन सकता है ॥ १२ ॥

यमी फिर बोली कि हे यम तुम निर्बल हो तथा तुम दीन हो अर्थात् शरीर और आत्मा दोनों प्रकार के बल से रहित हो । तुम्हारे मन के संकल्प और बुद्धिस्थ निश्चय को हम नहीं जानते । जैसे रज्जु से बंधने वाले वस्तु में रज्जु लग जाती वा जैसे वृक्ष पर लता लिपट जाती है वैसे अन्य कोई स्त्री तेरे साथ ही लिपटती अवश्य है जिस के साथ तुम आसक्त हो इसी कारण तुम मेरे साथ सम्भोग करना नहीं चाहते ॥ १३ ॥

यम फिर बोला कि हे यमि तू अन्य पुरुष से ही सम्भोग कर तथा वृक्ष को लता के तुल्य अन्य पुरुष तुझ से संयोग करे तू उस पुरुष के मन का आकर्षण कर अर्थात् तू उस के वश में होजा और वह पुरुष तुझ में आसक्त हो । और

तुम दोनों परस्पर एक दूसरे के वशवर्त्ती हो कर उस पुरुष के साथ सुन्दर कल्याणकारी मैथुन सम्बन्धी परस्पर सुख को प्राप्त हो । अर्थात् मैं तेरे साथ भोग नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

यह सायणभाष्य का अनुवाद मैंने आशयमात्र किया जिस से अधिक न बढ़े । अनेक महाशय इस अनुवाद को पढ़ कर चकित होंगे कि सायणाचार्य ने भी ऐसा भाष्य किया है ! विचार पूर्वक देखिये तः भारतवर्ष की अधोगति होने में ऐसे भाष्य और पुस्तक बनाना ही मूल कारण हैं । इन पुस्तकों से उपकार की अपेक्षा अपकार कईगुणा अधिक हुआ है । ऐसे भाष्यों और पुराणों का एक ही कारण है अर्थात् जिस अज्ञान से विपरीत भाष्य बने वही अज्ञान पुराणों के बनने में भी कारण हुआ और ऐसे ही सायणनिकटवर्त्ती लोगों ने पुराण भी बनाये हैं । इन को इतना विचार न रहा कि जब वेद को ऋषि लोगों ने अपौरुषेय अनादि सनातन ईश्वर की नित्यविद्या माना है तो हम किसी निज पुरुषों के इतिहास का वर्णन कैसे करें ? यदि निज पुरुष के चरित्र का वर्णन होगा तो उस चरित्र से पीछे बना उस पुस्तक को मानना पड़ेगा और मानें गे । अथवा हमारा भाष्य निकृष्ट समझा जायगा । और जब यम यमी सूर्य के कन्या पुत्र मानें तो वह सूर्य कौन था ? यदि कोई मनुष्य माना जावे तो मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति हो सकती है किसी लोक से मनुष्य का उत्पन्न होना असम्भव है । लोक की स्त्री किसे मानें ? जिस से संयोग कराया जावे । सायणभाष्य से यह भी प्रकट होता है कि यह वही यम है जो पितृलोक का राजा यमपुरी में रहने वाला है इसी का व्याख्यान इस मण्डल के १४ सूक्त में भी हो चुका है । इस विषय पर यहां विशेष आन्दोलन करने की आवश्यकता नहीं किन्तु सायणाचार्य का सारांश पूर्व लिख दिया अब इस सूक्त का मेरी समझ में यथार्थ आशय हो वह अर्थ और लिख दिया जाय तो विचारशील लोग स्वयमेव अपनी २ बुद्धि के अनुसार सार निकालें गे ही विशेष क्या लिखें ॥

परन्तु यह विचार अवश्य कर्त्तव्य है कि यम यमी कौन हैं ? । पुराणों में यम की बहिन यमुना नदी को माना है और अमरकोश के टीका वाले ने यमुना का ही नाम यमी भी माना है इस से यह भी जान पड़ा कि यमी और यमुना एक ही हैं । और यमुना नदी ही यम से संयोग करना चाहती थी तथा निघण्टु में यम्या नाम रात्रि का आया है वास्तव में यम्या शब्द नहीं किन्तु यमी से परे विभक्ति को आट् का आगम होता है इस कारण यम्या प्रयोग पढ़ा गया

ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

४ भाग | तारीख १५ फरवरी—माघ संवत् १९४७ | अङ्क ७

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

अथ सद्धर्मदूषणोद्धार की समीक्षा—

हमारे पाठक सज्जनों को स्मरण ही होगा कि इस आर्यसिद्धान्त मासिक पत्र का प्रारम्भ सनातन आर्यमतमण्डन और नवीन पाखण्डमतखण्डन के लिये हुआ है। इसी के अनुसार प्रारम्भ से इस पत्र में महामोहविद्रावण आदि के असत्सिद्धान्तों की निवृत्ति के और सत्सिद्धान्त की प्रवृत्ति के लिये लेख दिये गये और प्रायः ऐसे ही लेख अब तक छपते रहे परन्तु पीछे मैं ने देखा कि ऐसे प्रमाणाभास के आश्रय से पुस्तक बनाने वाले कुछ न्यून नहीं किन्तु दिन २ पुस्तक अधिक २ बनाते जाते हैं। और उन पु[illegible]क बनाने वालों को संस्कृत का कान पूंछ तक ज्ञात नहीं तो ऐसे मिथ्याप्रमाण पुस्तकों पर समालोचना करने से हमी लोग उन के प्रचार कराने वाले हो जाते हैं। क्योंकि जब हम उन का खण्डन करते हैं तो अनेकों को ध्यान होता वा हो सकता है कि यदि उस में कुछ न होता तो खण्डन क्यों किया जाता? खण्डन किया है तो उस को भी मंगा कर देखो। सो यह प्रचार विश्वास के बिगड़ जाने से होता है। तथा छल कपटादि अधर्म और अविद्या के बढ़ने से विश्वास बिगड़ता है। जब एक पुरुष प्रसिद्धि में सत्यवादी होकर गुप्त प्रकार वा धूर्त्तता से छल कपटादि करता है और द्वितीय वास्तव में सत्यवादी है तो साधारण मनुष्यों को इस का निर्णय सहज में नहीं हो सकता कि क्या ठीक है। किन्तु कहीं २ चोर अपनी चतुराई से स-

त्यकारी धर्मात्मा को चोर ठहरा देता और स्वयं धर्मात्मा बन बैठता है । और यह समाचार आज कल प्रत्यक्ष में हो रहा है । निरपराधी सैकड़ों मनुष्य राजकीय व्यवस्था में अपराधी ठहरा कर पकड़े जाते और उन को नित्यशः धनदण्ड वा कायदण्ड दिया जाता वा वधदण्ड भी कहीं २ निरपराधियों को होता है । इसी प्रकार सुपात्र ब्राह्मण पण्डित मारे २ फिरते हैं कि जिन को छल प्रपञ्चादि पूर्वक अनेक बातें बनाना नहीं आता उन को कोई पूछता नहीं उन के स्थान में मूर्ख पूजे जाते हैं । तथा वैद्यविद्या का मर्म न जानने वाले वैद्य बन कर पुजा रहे हैं । उन में कोई २ सच्चे वैद्यादि भी हैं भी तो वे उसी प्रवाह में डाल कर बहाये जाते हैं क्योंकि अविश्वासियों के साथ में विश्वासपात्रों का भी अविश्वास हो रहा है ॥

इसी प्रकार यहां भी यदि किसी आप्त के लिखने कहने आदि से किसी को विश्वास हो वा स्वयं वैसे सत् असत् के विवेक की शक्ति हो तब तो किसी प्रकार सत्य पर विश्वास हो सकता है सो ये दोनों ही दशा बिगड़ी हैं इसी से कोई किसी का विश्वास नहीं करता इस में केवल विश्वास न करने वाले मनुष्यों का दोष नहीं किन्तु अधर्म और अविद्या के बढ़ जाने का दोष है इसी प्रसङ्ग की सहायकारिणी "दूध का जला मट्ठे को फूंक २ पीता है" यह जनश्रुति है । इस की निवृत्ति धर्म और विद्या का प्रचार बढ़ने के साथ है । इस से सिद्ध हुआ कि लोक में सत्य पर विश्वास के बिगड़ने और मिथ्या पर विश्वास हो जाने से सत्य धर्म की हानि दिन २ होती जाती है । यदि मैं कहूं कि मेरा तो लेख सत्य २ निष्पक्षपात है उस का जो विश्वास न करे उस पुरुष का दोष है तो ठीक नहीं क्योंकि मेरे समान कोई पक्षपाती भी सत्य धर्म का हठ कर लिखता है तो किस का सत्य है ? कैसे जानें ? ऐसी दशा में विद्या और धर्मात्मता का होना आवश्यक है अर्थात् विद्वान् धर्मात्मा पुरुष मिथ्या पर विश्वास नहीं कर सकता सो ऐसे पुरुष जगत् में कम हैं। इस लिये उचित समझा था कि असत्सिद्धान्त वा अविद्वानों के लेखों पर विशेष परिश्रम पूर्वक उत्तर न देके वेद सम्बन्धी किन्हीं विषयों वा मन्त्रों का ठीक अर्थ करके आर्यसिद्धान्त में छपाया करें जिस से लोगों का विशेष उपकार होगा । इस कारण नवीन निर्मित पुस्तकों का उत्तर देना रोक दिया गया था और यही विचार अब भी है तथापि अपने एक प्रिय मित्र के अनुरोध से इस पुस्तक पर कुछ समालोचना लिखता हूं ।

प्रथम इस पुस्तक के "सद्धर्मदूषणोद्धार" नाम पर ध्यान दीजिये कि जो सत् नाम श्रेष्ठ धर्म वा श्रेष्ठ पुरुषों का धर्म उस का वा उस में दूषण कब हैं ? वा कहां से आये ? जिन का उद्धाररूप यह पुस्तक है । श्रेष्ठ धर्म में जब दूषण स्वयमेव होते नहीं और जिस में दूषण होते हैं वह सद्धर्म नहीं तो उद्धार करना कैसे बन सकता है ? । यदि कदाचित् कहें कि यद्यपि सद्धर्म में दूषण नहीं होते तो भी दुष्ट वा नास्तिक धूर्त्त लोग उस में दूषणों का आरोपण करते हैं जैसे आज कल आर्यसमाजियों ने अनेक सद्धर्मों पर दूषण लगाये हैं उन का उद्धार होने वा करने के लिये यह पुस्तक बनाया है तो सो भी ठीक नहीं क्योंकि प्रथम तो यह अभिप्राय तुम्हारे नाम से निकलता ही नहीं और कदाचित् निकले भी तो सद्धर्म में दूषण लगना तुम को भी स्वीकृत होगया फिर विचार करना था कि जब दूषण लग गया तो सद्धर्म क्यों रहा ? अर्थात् जो निर्दोष है वह सद्धर्म और दूषित असद्धर्म है अथवा यों कहो कि निर्दोष रहने से सद्धर्म और दूषित होने से असद्धर्म कहाता है । जिन २ धर्मों में दोष वा बुराई हैं वेही असद्धर्म कहाते हैं । और सर्वदोष रहित सद्धर्म कहाते हैं यदि कदाचित् आर्यसमाजियों ने उस में दोष लगा दिये और लग गये तो दूषित हो गया ? और आप ने भी दूषित मान लिया तो यह विचारना था कि सद्धर्म जिसको हमने माना है वह सिद्ध है ? वा साध्य अर्थात् जब प्रतिपक्षी उस में दोष लगाता है तो वह उस को सद्धर्म नहीं समझता यदि सद्धर्म समझता तो उसको दोष नहीं लगाता किन्तु वह वास्तव में असद्धर्म है इस कारण दूषित है ऐसा सिद्ध करता है अज्ञान से वा प्रमाद से लोगों ने उस को सद्धर्म मान लिया सो ठीक नहीं अब विचार का स्थान है कि सद्धर्म साध्य हो गया कि जिसको इन्हों ने सद्धर्म समझा वा माना वह सद्धर्म ही नहीं तो भी "सद्धर्मदूषणोद्धार" नाम कैसे शुद्ध हो सकता है ? जैसे अन्यस्वीकृत सद्धर्म को आप निकृष्ट समझते हो वैसे आप के स्वीकृत को वह निकृष्ट समझता है इस दशा में जब दोनों साध्य हैं तो साध्यपक्ष में ला कर विचार चलाना चाहिये जैसे आप का सद्धर्म सत्य हो सकता वैसे अन्य का भी सद्धर्मत्व सामान्य से सत्य क्यों नहीं हो सकता ? अन्य का दूषित वा मिथ्या है तो आप का भी उन्हीं कारणों वा प्रमाणों से मिथ्या क्यों नहीं इत्यादि प्रकार आपने अपनी इच्छा से स्वीकार किया सद्धर्म साध्य है । और जब तक

यह सिद्ध न हो चुके कि सद्धर्म वास्तव में कौन है ? तब तक ऐसा नाम किसी प्रकार नहीं रख सकते और ऐसा नाम रक्खा तो "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" के तुल्य किसी का पक्ष दूषित हो गया ॥

द्वितीय इस पुस्तक के टाटिल पर "पं० हरिशंकर लाल शास्त्री कान्यकुब्ज कन्नौजनिवासी ने" लिखा है इस में बड़ी अशुद्धि हैं जिन से पण्डिताई में बट्टा लगा जाता है । और मुख्य बड़ी दो अशुद्धि हैं । एक तो पण्डित शब्द में व्याकरण के नियमानुसार नित्य परसवर्ण डकार में णकार मिला रहता है कदापि अनुस्वार लिखना वा छापना शुद्ध नहीं । द्वितीयशङ्कर शब्द में भी परसवर्ण लिखना वा छपाना चाहिये था सो ये अशुद्धि अन्धपरम्परा ग्रस्त होने में उदाहरण माननी चाहिये । ये अशुद्धि पुस्तक निर्माता पण्डित की हों वा उन के मित्र मिहिरचन्द्र की हों दो में एक की अवश्य हैं । और टाटिल भी जब पुस्तक बनाने वाले की ओर से है तो अपने नाम को अधिक बढ़ा कर (मनमानी तीन चार उपाधि लगा कर) लिखना पूरी असभ्यता जताता है । "यह द्वितीयग्रासे मक्षिकापातः" के समान हुआ । अब कान्यकुब्जादि शब्दों पर लेख अधिक बढ़ाने के भय से न लिख कर संक्षेप से अनुक्रमणिका के पहिले श्लोक की कुछ समालोचना सुनिये कि जो इस से और भी बढ़ कर "स्थालीपुलाकन्याय" से उन की योग्यता जानने के लिये हो जायेगा । यद्यपि हम को विद्वत्ता की परीक्षा करने से विशेष प्रयोजन नहीं तथापि विद्वत्ता की परीक्षा के साथ ही उस के लेख अच्छे बुरे माने जा सकते हैं इस कारण पाण्डित्य की परीक्षा प्रथम करना उपयोगी है । द्वितीय यह भी है कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो कुछ लिखा जाता है उस पर पुस्तक निर्माता बुद्धि का विशेष व्यय करता है इस लिये यदि यहीं गिरा तो आगे अवश्य गिरा होगा यह अनुमान हो जाता है । प्रथम श्लोक उन का यह है-

प्रथमे तु परिच्छेदे मुक्तिरेव प्रयोजनं ।
न जन्मनः समुद्दिष्टं विज्ञैः तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥

इस श्लोक पर यदि हरिशङ्कर लाल जी के मित्र पं० मिहिरचन्द्र जी भाषा करते तो कुछ उन की भी समालोचना हो जाती सो इन ११ पद्यों की भाषा

बा० वृन्दावन जी मन्त्री आर्यसमाज काशीपुर ज़ि० तराई के भेजे प्रश्नों के उत्तर ॥

१—प्र० परमाणु सूक्ष्म होने के कारण अनादि हैं परन्तु जो वस्तु सूक्ष्म होती है वह स्थूल कदापि नहीं हो सकती जैसा कि सौ आत्मा भी जोड़ें तो स्थूल आत्मा नहीं बने गा तो परमाणु स्थूल कैसे माने जांय ? और स्थूल मानो तो अनादि नहीं हो सकते ॥

उत्तर—सूक्ष्म शब्द में लाक्षणिक वा शाब्दिक ऐसा कोई अर्थ नहीं है जिस से वह शब्द परमाणु के साथ लगाने से उन को अनादि ठहरा सके इस से "सूक्ष्म होने के कारण परमाणु अनादि हैं" यह वाक्य ही ठीक नहीं। अर्थात् परमाणुओं के अनादि होने में सूक्ष्म होना हेतु नहीं, ऐसा हो तब तो जो २ वस्तु सूक्ष्म हो वह २ अनादि होना चाहिये जैसे अनेक जन्तु छोटे शरीर धारी सूक्ष्म हैं तो वे भी अनादि हों सो यह ठीक नहीं है। जिस वस्तु की सिद्धि में जो हेतु होता है वह जहां २ होगा वहां २ वैसी दशा माननी पड़ेगी है जैसे उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ अनित्य हैं। यहां सब पदार्थों के साथ उत्पन्न होने वाला यह हेतु है। इस से यह भी आ गया कि जो उत्पन्न होने वाला वस्तु नहीं वह नित्य है। इस प्रकार सूक्ष्म होना हेतु नहीं है। सो यह भ्रान्ति शब्दों के अर्थ ठीक २ न जानने से प्रश्न कर्त्ता को हुई। परमाणु शब्द का अर्थ अत्यन्त सूक्ष्म है तो वह अपने शब्दार्थ से ही अनादि है कि जो अत्यन्त सूक्ष्म हो जिस से अधिक सूक्ष्म कार्य वस्तु की कारण दशा हो ही नहीं सकती उसी का नाम परमाणु है। जिस का भाग वा टुकड़ा हो ही नहीं सकता वही अनादि है जिस के स्वरूप में से भाग वा टुकड़े रूप अवयवों का वियोग हो सकता है वह सादि है अर्थात् उन २ अवयवों का संयोग जब होता है तब ही से उन का आदि जानो

अब विचार यह है कि सूक्ष्म वस्तु स्थूल कोई हो सकता है वा नहीं ?! इस के उत्तर में नैयायिकों के दो पक्ष हैं—एक तो पदार्थान्तरोत्पत्ति पक्ष और द्वितीय अणुसंचय पक्ष इन दोनों में पहिला पक्ष प्रबल वा प्रधान है। इन दोनों पक्ष में जो वस्तु सूक्ष्म है वह स्थूल कदापि नहीं हो सकता। पदार्थान्तरोत्पत्ति

पक्ष में परमाणुओं के संयोग से घट एक भिन्न वस्तु उत्पन्न होता है किन्तु परमाणुओं के संयोग मात्र का नाम घटादि नहीं है । इसी लिये पत्थर पहाड़ आदि अति स्थूल और परमाणु अति सूक्ष्म हैं । परमाणुओं का नाम घट नहीं है और न घट का नाम परमाणु है । यह पदार्थान्तरोत्पत्ति का सिद्धान्त है । और घट पटादि पदार्थ परमाणुओं से भिन्न कुछ नहीं । सूत्रों से भिन्न वस्त्र कुछ नहीं मट्टी से भिन्न घड़ा कुछ नहीं इस लिये सूत्रों के संयोग का नाम वस्त्र और अणुओं के संयोग का नाम घड़ा है। इसी को अणुसंचय पक्ष कहते हैं इसी से आधुनिक वेदान्त का मत मिलता है। परन्तु इस पक्ष को पहिले पदार्थान्तरोत्पत्ति पक्ष वाला काट देता है कि तुम्हारे मत में एक पदार्थ कोई न रहा सब एक २ वस्तु अनेक २ अणुओं के समुदाय रूप ढेर एहु तो अनेकों को एक समझना अन्य में बुद्धि रूप सब मिथ्या ज्ञान हुआ । फिर किसी पदार्थ का ज्ञान सत्य न रहा तो मिथ्या ज्ञान का कारण बताना चाहिये सो मिलता नहीं इस कारण अणुसंचय पक्ष ठीक भी नहीं । परन्तु सूक्ष्म वस्तु स्थूल नहीं होता यह सिद्धान्त दोनों पक्ष में ठीक है । पदार्थान्तरोत्पत्ति पक्ष में परमाणुओं से उत्पन्न हुआ घट एक भिन्न पदार्थ है वही स्थूल है जो स्थूल है वह घट है उस घट का नाम परमाणु नहीं जो परमाणु हैं वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं उन का नाम घट नहीं । घास आदि के खाने से दूध उत्पन्न होता है पर वह घास आदि भिन्न एक वस्तु है घास आदि का नाम वा रूप दूध नहीं । दूध से दही एक भिन्न वस्तु है दही का नाम दूध नहीं। सूत से वस्त्र बनता पर वस्त्र कहने से सूत नहीं समझा जाता। कपास से सूत होता पर सूत का नाम कपास नहीं। ईख से गुड़ चीनी वा मिश्री आदि बनते हैं पर गुड़ आदि से ईख भिन्न वस्तु माननी पड़ती है । इत्यादि प्रकार कारण से उत्पन्न हुआ कार्य भिन्न है इसी से परमाणुओं से उत्पन्न हुआ घट आदि स्थूल और परमाणु सूक्ष्म हैं । अणुसंचय पक्ष में जैसे एक वाल दूर से नहीं दीखता पर वालों का समुदाय अवश्य दीखता है यहां एक २ वाल सूक्ष्म और वालों का समुदाय स्थूल है पर तो भी सूक्ष्म वस्तु स्थूल वा स्थूल सूक्ष्म नहीं हो गया। रहा आत्मा का दृष्टान्त सो ये ठीक नहीं कि आत्मा किसी वस्तु का उपादान कारण नहीं । और परमाणु उपादान कारण हैं। उपादान कारण का होना हम लोगों के आधीन नहीं किन्तु यह अनादि नियमानुसार है हम चाहें जिस को चाहें जिस का उपादान मान वा बना लें यह नहीं हो सकता । यदि आत्मा भी किसी वस्तु के उपादान

कारण होते तो उन १०० आत्मा के संयोग से स्थूल आत्मादि बन जाते सो नियम विरुद्ध है इस लिये यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं। और परमाणुओं का स्थूल होना कोई नहीं मानता वा कह सकता तथा न मानना चाहिये किन्तु परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और उन के संयोग से बने घट आदि पदार्थ स्थूल हैं ॥

२—(प्रश्न) प्रकृति सत् रज तम का योग है तो प्रकृति अनादि नहीं है बल्कि तीनों गुण अनादि हुए ॥

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर विशेष कुछ नहीं है सत्त्व रजस् और तमस् ये प्रकृति के गुण हैं। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले कार्यों में ये गुण विषमता से रहते और कारण दशा में समभाव से रहते हैं इसी लिये "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" तीनों गुण की जब तुल्य अवस्था वा दशा होती है उस को प्रकृति कहते हैं किन्तु तीनों के योग का नाम प्रकृति नहीं है। गुण के योग से द्रव्य बनता भी नहीं किन्तु गुण सदा द्रव्य के आश्रय रहते हैं सत्त्व, रजस् तमस् ये गुण हैं और प्रकृति द्रव्य है। सत्त्वादि की साम्यावस्था से प्रकृति का लक्षण वा स्वरूप दिखाया गया है। और कहीं न कहीं सदा सत्त्वादि की साम्यावस्था रहती है इस लिये प्रकृति भी नित्य अनादि है ॥

मन्नालाल शर्मा द्वितीयाध्यापक अकबरपुर ज़ि० कानपुर के प्रश्न का उत्तर

१—(प्रश्न) धर्म क्या है ? और किसे कहते हैं ? और विशेष लक्षण क्या हैं ? मनुष्य किन २ कार्यों के करने से धार्मिक और बेधर्म होता है। और बेधर्म होने के पश्चात् किन कार्यों के करने से फिर धार्मिक हो जाता है प्रमाण शास्त्र और युक्ति होना चाहिये ॥

उत्तर—इस प्रश्न पर ध्यान दें तो यह पहाड़ से भी बड़ा प्रतीत होता है। पहाड़ का लांघ जाना सहज प्रतीत होता है परन्तु इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर देना कठिन है। तथापि जितना उत्तर मैं दे सकता हूं उतना लिखना भी बृहत् होगा इस लिये अत्यन्त संक्षेप से लिखूंगा। मानवधर्ममीमांसाभाष्य के उपोद्घात में धर्म शब्द पर कुछ व्याख्यान सप्रमाण लिखा गया है वह यहां नहीं लिखा जा-

यगा । मुख्य कर हृदय के भीतर संचित शुभ कार्यों की ओर झुकाने वा शुभ इष्ट सुखरूप फल देने वाले तथा आत्मा और अन्तःकरण को सदा शुद्ध तथा प्रसन्न रखने वाले शुभ संस्कार धर्म हैं इसी लिये मन की शुद्धि को धर्म कहते हैं। और उस के विशेष लक्षण ये ही हैं कि---१—मन से सब पर दया दृष्टि अर्थात् दूसरों के दुःख में स्वयं दुखः मान कर उस को हटाने का यत्न करना ।

२—अतिलोभ या तृष्णा को छोड़ना, किसी के वस्तु को लेकर सुखभोग की अभिलाषा न रखना, जो कुछ परमेश्वर ने न्यायव्यवस्था के अनुसार धनादि पदार्थ अपने आधीन किया है उस से प्रसन्नता पूर्वक निर्वाह करना—इसी को सन्तोष भी कहते हैं ।

३—अच्छे काम करने वा अपने मानस विचारों को सुधारने की सदा श्रद्धा रखना। श्रद्धा के विना संसार में किसी शुभकार्य की सिद्धि वा पूर्ति नहीं होती। बुरा काम करने का जो विचार मन में आता है उस का नाम श्रद्धा नहीं किन्तु श्रद्धा एक मानसगुण है " प्रत्ययो धर्मकार्येषु सा श्रद्धेत्यभिधीयते " धर्मसम्बन्धी कार्यों में जो प्रतीति निश्चय कि यह मुझ का अवश्य करना चाहिये इसी से मेरा इष्ट सिद्ध होगा । यह तीन प्रकार का मानस-मन सम्बन्धी धर्म है । ४—वाणी से सत्यबोलना, चाहे कैसी ही हानि क्यों न हो वा प्राण तक चला जावे पर मिथ्या न बोलना । ५—हितकारी वाक्य बोलना, कदाचित्सत्य वाक्य हितकारी न हो वा जो हितकारी हो वह सत्य न हो तो जिस का फल वा परिणाम अच्छा दीख पड़े वैसा बोले यदि दोनों में तुल्यता हो तो समयानुसार उचित हो सो करे वा मौन हो जावे । ६—प्रिय बोलना जिस को सुन कर श्रोता को प्रसन्नता प्रकट हो । ७-अनादि अपौरुषेय ईश्वरीय विद्या वेद का पढ़ना यह चार प्रकार का वाचिक धर्म हैं । तथा ८ —शरीर से दान देना अर्थात् सुपात्रों को उत्तम २ पदार्थ देकर सन्तुष्ट वा प्रसन्न करना । ९—शरणागत दीन वा अनाथो की रक्षा करना । तथा १०—गुरु वा पिता माता आदि मान्य पुरुषों की यथायोग्य सेवा करना यह तीन प्रकार का शारीरक धर्म है । अर्थात् इस दश प्रकार के आचरण वा वर्त्ताव से जान पड़ता है कि अमुक मनुष्य के भीतर धर्म है। इस लिये ये मुख्य धर्म के कारण हैं । यह सब धर्म का लक्षण अखिल कहाता है । धर्म के कारण भी धर्मपदवाच्य मान लिये जाते हैं इसी लिये उन साधनों के

अनुष्ठान कर्त्ता को धर्म का सेवी है ऐसा कहते हैं। जैसे रसोई बनाने के साधन जोड़ने वाले को कहते हैं कि रोटी बनाता है॥

द्वितीय आगे कहे प्रतिषिद्ध दश प्रकार के आचरण को सर्वथा छोड़ देना भी धर्म कहाता है। जैसे—१-"हिंसा" निरपराध प्राणियों को दुःख पहुंचाने की चेष्टा करना वा कराने का यत्न करना तथा मार डालना। २—स्तेय-विना आज्ञा दूसरे के पदार्थ को लेने की चेष्टा करना वा लेलेनारूप चोरी करना। ३—गुरुपत्नी माता भगिनी मामी आदि के साथ मैथुन करना वा परस्त्रीगमन मात्र करना यह तीन प्रकार का शरीर से होने वाला अधर्म है। तथा ४—मिथ्या बोलना ५—कठोर बोलना ६—निन्दा वा पिशुनता करना तथा७—असम्बद्ध निष्प्रयोजन व्यर्थ बकना ये चार वाणी से होने वाले अधर्म हैं। ८—अन्य निरपराध को दुःख देने की इच्छा रखना ९—दूसरे के पदार्थ को सब प्रकार लेने की इच्छा रखना और १०—नास्तिकता रखना कि क्या हो सकता है धर्म अधर्म कुछ नहीं सुख भोग जिस प्रकार हो सके करना चाहिये। ये दश प्रकार के अधर्म हैं। नास्तिक मनुष्य का मुख्य लक्षण यह है कि वह प्रायः विश्वासघाती होता है और विश्वासघात सर्वोपरि महा अधर्म है इस से नास्तिक बड़ा अधर्मी है। तथा उक्त दशों धर्म के छोड़ देने को भी अधर्म कहते हैं। ये ही धर्म अधर्म के विशेष लक्षण हैं अर्थात् अधर्म के विचारों को छोड़ देना और धर्म के उपयोगियों के सेवन को धर्म करना कहते हैं। यद्यपि धर्म के विशेष लक्षण पूर्वोक्त लक्षणों से भिन्न अनेक हो सकते हैं तो भी मूल रूप विशेष लक्षण ये ही हैं अन्य लक्षण इन्हीं के व्याख्यान रूप होंगे उन को यहां लिखना कुछ विशेष उपयोगी नहीं और लेख भी अधिकतर बढ़ जाना सम्भव है इस लिये यहां विशेष लिखना आवश्यक नहीं समझ पड़ता।

अब ध्यान देने से यह बात भी इसी में से निकल आ सकती है कि इन्हीं पूर्वोक्त धर्म के लक्षणों को यथावत् सेवन करने से धार्मिक और इन के छोड़ देने वा ऊपर लिखे अधर्म के लक्षणों का सेवन करने से वेधर्म वा अधर्मी हो सकता है। यह तो सब सामान्य विचार रहा अब विशेष विचार यह है कि "धर्म किसे कहते हैं?" यह प्रश्न कठिन है क्योंकि जहां सर्व सम्मत धर्म वा अधर्म

है वहां प्रायः सब की सम्मत्यनुसार है वही धर्म वा अधर्म माना जाता वा ठहरता जैसे सत्य बोलना चोरी न करना सब पर दया करना किसी को दुःख देने की चेष्टा न करना इत्यादि प्रायः सर्वसम्मत धर्म है यद्यपि इस में प्रायः देश काल में प्राणियों को विवाद नहीं तथापि अनेक अवसर ऐसे आ पड़ते हैं कि इन में भी विवाद खड़ा हो जाता है जैसे–दान देना धर्म है। परन्तु उस दान के मिलने से ही उसी दान से प्राप्त किये धन से जो अधर्म करता और दाता की प्रशंसा भी कर देता है इस कारण दाता उस को दान देता, है तो क्या ऐसा दान भी धर्म माना जायगा ?। शरणागत की वा दीन दुःखी की यथाशक्ति रक्षा करना धर्म है पर महा अधर्मी बनावटी नम्रता से शरणागत हो जावे जिस अधर्मी के संसार में रहने से महा अधर्म फैलता वा सैकड़ों प्राणियों को दुःख पहुंचता हो क्या ऐसे शरणागत की रक्षा करना भी धर्म है ? अथवा ऐसे शरणागत को मार वा मरवा डालना धर्म है ?। सत्य बोलना धर्म है। यदि कहीं सत्य बोलने से किसी उपकारी प्राणी का बध होता वा किसी धर्म के कार्य में बाधा पड़ती वा कोई बड़ा अधर्म हुआ जाता हो तो क्या वहां भी सत्य बोलना धर्म है ? वा सत्य से विपरीत बोलना धर्म है ?। यद्यपि सब का हित वा उपकार करना धर्म है तो भी क्या सर्प वृश्चिक आदि का हित वा उपकार करना अर्थात् जिस से अधिक हृष्ट पुष्ट हो कर प्राणियों को काटें क्या यहभी धर्म है.? और क्या भूखे वा दुःखित सर्पादि को कुछ न देकर फड़फड़ा २ कर मरते देखना धर्म है ?। यद्यपि दया रखना बड़ा धर्म है तो भी क्या दुष्ट डाकू वा प्रायः धर्मात्माओं के सताने वालों पर दया करना वा दुःख पाते न देख सकना धर्म है ?। क्या दुष्ट अधर्मी नीच प्रकृति वाले कपाली ठग धूर्त व्यभिचारी ब्रह्महत्यादि महापातक करने वाले को राजा महादुःख भुगाने का दण्ड देता है तो उस को अधर्म होगा ?। तृष्णा को वा लोभ को छोड़ना धर्म है तो धर्म पूर्वक धनादि के उपार्जन का लोभ रखना और विद्या पढ़ने की तृष्णा रखना भी क्या अधर्म है ?। तथा क्रोध करना बुरा है तो अधर्मी पर वा अधर्म वा अन्याय पर अथवा शिक्षा के लिये पुत्र शिष्यादि पर भी क्रोध करना बुरा है ? वा अधर्म है ?। और ईर्ष्या करना बुरा है तो विद्या पढ़ने में ईर्ष्या करना कि मैं सब से अधिक हो जाऊं मेरी बराबर कोई न हो यह भी क्या अधर्म है ?। इत्यादि

अनेक अवसर वा प्रकार ऐसे हैं जहां धर्म के साथ अधर्म वा अधर्म के साथ धर्म दूध में जल के समान मिला रहता है। ऐसे स्थलों में प्रायः लोगों की बुद्धि भ्रमजाल में पड़जाती है कि वास्तव में धर्म क्या है ?। सो केवल साधारण प्राकृत बुद्धियों का ही यह समाचार नहीं किन्तु इस अवसर पर अच्छे २ विद्वानों की भी बुद्धि चकराती है और ऐसे स्थलों को विचार कर प्रायः लौकिक लोग इस जनश्रुति (कहावत) का प्रयोग करते हैं कि "धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः" अर्थात् संसारी मनुष्य जिस कार्य को धर्म समझ कर प्रारम्भ करते हैं उन से भी कहीं २ धर्म के बदले अधर्म और अधर्म में भी कहीं २ धर्म आजाता है इस का आशय यह न समझ लिया जावे कि किसी धर्म सम्बन्धी कार्य का प्रारम्भ ही न करें क्योंकि कहीं अन्यथा वा निष्फलता हो तो सर्वत्र वैसा समझ लेना भी ठीक नहीं। और ऐसा कोई कर भी नहीं सकता। यहां पूर्व धर्म अधर्म विषय के प्रश्न वा सन्देह हमने स्वयमेव किये हैं उन का पूरा उत्तर हम क्या कोई भी विद्वान् नहीं दे सकता क्योंकि इस विवाद का निर्णय यथासमय ही ठीक बन सकता है कि जब किसी मनुष्य पर धर्मसंकट आजावे और वह इस सन्देह में पड़ा हो कि इन दो उपस्थित कर्त्तव्यों में धर्म के अनुकूल क्या है ? मैं क्या करूं ? तो वह आर्य पण्डित आप्त वेदज्ञ विद्वान् लोगों की धर्मसभा में जाकर अपने प्रश्न का निर्णय कराने की प्रार्थना करे। इसी लिये धर्मशास्त्रों में लिखा है कि-

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ २ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ३ ॥

तात्पर्य यह है कि जहां धर्म में विवाद पड़ जावे कि यहां क्या धर्म है अथवा यों कहिये कि इन दो कर्त्तव्यों में क्या करना चाहिये और उस प्रकार की शङ्का का समाधान धर्मशास्त्रों में न लिखा गया हो (अर्थात् भावी सब प्रकार के अ-

वसरों पर उपस्थित होने वाले प्रश्नों के नाम वा स्वरूप तथा उन के समाधान पहिले से कोई लिख भी नहीं सकता क्योंकि उस २ प्रकार के प्रश्न और उत्तर देशकाल के भेद से उन्हीं अवसरों पर उत्पन्न हो सकते हैं जैसे कि भावी नवीन कुपथ्यों से होने वाले नवीन रोगों की ओषधि प्रथम से कोई नहीं लिख सकता। और ऐसे प्रश्न वा रोगादि के सदा नवीन २ विलक्षण उत्पन्न होने में देश काल और वस्तु का भेद ही कारण है) तो क्या करे ? इस का उत्तर दिया है कि धर्म कर्म सम्बन्धी ठीक २ शिक्षा को प्राप्त हुए ब्राह्मण लोग जिस को धर्म कहें कि इन दोनों में यह उत्तम कर्त्तव्य होने से धर्म है वही निःसन्देह धर्म माननीय है। जिन्हों ने धर्मपूर्वक निष्कपट गुरु की सेवा शुश्रूषा करके साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ा हो वे वेद के प्रमाण को सर्वोपरि मानने वाले शिष्ट-शिक्षित ब्राह्मण कहाते हैं। जब धर्म-सम्बन्ध में सन्देह पड़े तो उस का निर्णय-(फैसला) कराने के लिये उक्त प्रकार के श्रेष्ठ शिक्षित धर्मात्मा विद्वान् लोग कम से कम तीन वा दश एकत्र हों। उन की सभा से धर्म का निर्णय हो। उस निर्णय को सब लोग मानें कि यह धर्म है और उस के अनुकूल चलने वाले धर्मात्मा कहावें। अब हम इस विषय पर

सद्धर्मदूषणोद्धार का उत्तर पृ० १०० से आगे

भी नहीं लिखी क्योंकि इस पुस्तक पर नागरी भाषा के अनुवादक पं० मिहिर-चन्द्र जी हैं। इस श्लोक में पाठ की एक जो "प्रयोजनं" अवसान में अनुस्वार लिखा यह बड़ी अशुद्धि है क्योंकि हल् प्रत्याहार के परे व्याकरण में अनुस्वार होता है। अन्य अशुद्धि साधारण हैं पर इस की अर्थाशुद्धियों पर ध्यान दीजिये तो बड़ा आश्चर्य होगा कि जिन के नाम के साथ पण्डित, शास्त्री और काव्य-कुञ्ज ऐसे तीन २ पुछल्ले लगे हैं उन का कथन ऐसा असङ्गत हो ?। इस श्लोक का अर्थ यह है कि "इस पुस्तक के बारह परिच्छेदों में से प्रथम परिच्छेद में तत्त्व अर्थ के देखने वा जानने वाले विद्वान् लोगों ने मुक्तिरूप मनुष्य जन्म का प्रयोजन ही मुख्यकर कहा है।" अब कुछ भी विचार रखने वाले मनुष्य लोग ध्यान दें कि जब इन के पुस्तक का नाम "सद्धर्मदूषणोद्धार" है तो प्रथम सद्धर्म का निरूपण करते कि इस २ प्रकार अमुक २ सद्धर्म है और उस में अमुक मत वा समुदाय ने अमुक २ दूषण लगाये हैं उन का हम इस क्रम वा रीति से यह उद्धार करते हैं। तो पुस्तक का नाम सार्थक होता। पुस्तक का नाम उस में

होने वाले व्याख्यान का मूलसूत्र होता वा होना चाहिये तब सार्थक हो । और वैसे तो प्रमत्तगीत के तुल्य सब कथन है । भला मुक्ति और सद्धर्मदूषणोद्धार से क्या सम्बन्ध है ? और जब कुछ सम्बन्ध नहीं तो असम्बद्ध प्रलाप हुआ । और द्वितीय यह भी पाठक जन विचारें कि विज्ञ तत्त्वदर्शी लोगों ने मुक्ति का प्रयोजन प्रथम परिच्छेद में कहा इस से इस पुस्तक के कर्त्ता अन्य कोई विद्वान् प्रतीत होते हैं क्योंकि श्लोक बनाने वाला उन को प्रथम पुरुष में रखता है जो श्लोक बनाने वाले से भिन्न स्पष्ट प्रतीत होते हैं । तो क्या यह सत्य है कि पुस्तक के बनाने वाले अन्य कोई हों और श्लोक अन्य का बनाया हो ? । यदि यह सत्य नहीं तो पुनरपि " प्रथमग्रासे मक्षिकापातः " वा " तृतीयग्रासे मक्षिकापातः " हुआ अर्थात् श्लोक अशुद्ध असङ्गत हुआ । यदि इन को मुक्ति भी कहनी थी तो धर्मार्थ काम मोक्ष के क्रम से प्रथम मुक्ति के साधन धर्मादि का व्याख्यान करते पीछे सब के अन्त में फलरूप मुक्ति का वर्णन होता तो कुछ सङ्गति मिल भी जाती सो तो है नहीं इस से यह सब कथन ऊटपटांग ही जानो । आगे द्वितीय श्लोक यह लिखा है कि—

द्वितीये तु मुक्ति भेदाः धर्मसाध्या निरूपिताः ।
धर्मस्य तत्त्वं तत्प्राप्त्यै संस्काराश्च प्रकीर्त्तिताः ॥२॥

अस्यानुष्टुप्पद्यस्य निर्माणप्रक्रिया छन्दःशास्त्रानुसारिणी नोपलभ्यते । एषां पौराणिकानामभिमतेष्वाधुनिकपुस्तकेषु पञ्चमं लघुसर्वत्रेति लिखितम् । अनुष्टुप्छन्दसः सर्वपादेषु पञ्चममक्षरं लघु कार्यम् । तथाऋषिप्रणीते पिङ्गलसूत्रेऽपि " य चतुर्थात् " इतिसूत्रानुसारं पादस्य चतुर्थादक्षरात्परो यगणः कार्यः । तथा-चादिलघुर्यगणः । एवं सत्यपि सर्वपादेषु पञ्चमो वर्णो लघुरेवा-याति । हरिशङ्करलालशास्त्रिणा चायुक्पादयोरुक्तपद्ये पञ्चमो

वर्णो गुरुर्धृतोऽस्ति । तेनानुमीयते छन्दोनिर्माणज्ञानमपि तस्य-नास्त्येव यद्यासीत्तर्हि किमर्थमतो विरुद्धमाचरेत्। लोकाः पश्यत! यस्य पाण्डित्यं पद्यनिर्माणएतादृगस्ति तस्य "हरिशङ्करलाल" इति सप्ताक्षरं शास्त्रनियमविरुद्धं वृहन्नाम कथं न स्यात्?। तथा-चोक्तं पतञ्जलिना--"द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा कृतं नाम कुर्यान्न तद्धितमिति" अनेन सप्ताक्षरं नाम कथमपि शास्त्रानुकूलं नास्ति। किमत्र बहुलेखेन प्रयोजनम् ॥

द्वितीय परिच्छेद में धर्म से सिद्ध होने वाले मुक्ति के भेद निरूपित किये हैं। धर्म का तत्त्व और मुक्ति की प्राप्ति के लिये संस्कार भी कहे हैं। इस अनुष्टुप् श्लोक के बनाने की रीति छन्दःशास्त्र से विरुद्ध है। इसी कारण इस का उच्चारण रीति पूर्वक अच्छा नहीं हो सकता। इस में कुछ अधिक पण्डिताई की आवश्यकता नहीं थी जिन को पिङ्गल के सब नियम ठीक ज्ञात नहीं और संस्कृत में उन का कुछ प्रवेश हो तो वे दूसरों के बनाये प्रचरित श्लोकों के गुरु लघुक्रम को देख कर शुद्ध श्लोक बना लेते वा बना सकते हैं। परन्तु पण्डिताई के अभिमान में हरिशङ्करलाल से यह भी न हुआ। इन पौराणिक लोगों के अभिमत श्रुतबोध और छन्दोमञ्जरी आदि आधुनिक पुस्तकों में लिखा है कि अनुष्टुप्छन्द के प्रत्येक पाद का पांचवां अक्षर लघु रहना चाहिये। और पिङ्गलसूत्र से भी यही आता है कि प्रत्येक पाद के चौथे वर्ण से आगे यगण रखना चाहिये। और आदिलघु यगण होता है इस कारण से पांचवां लघु आता है। परन्तु हरिशंकरलालशास्त्री ने उक्त द्वितीय श्लोक के प्रथम तृतीय पादों में पांचवें वर्ण (मु, त्वं) गुरु रक्खे हैं इस से अनुमान होता है कि श्लोक बनाने का ज्ञान भी उन को ठीक २ नहीं है यदि होता तो उस से विरुद्ध क्यों लिखते। पाठक लोगो! देखो जिन की पण्डिताई श्लोक बनाने में

ऐसी है उन का शास्त्र के नियम से विरुद्ध "हरिशङ्करलाल" यह सात अक्षर का लम्बा चौड़ा नाम क्यों न हो ? । पतञ्जलि ऋषि ने गृह्य सूत्रादि के अनुसार लिखा है कि दो वा चार अक्षर का नाम रक्खे वह कृदन्त हो तद्धित नहीं इस से सात अक्षर का नाम किसी प्रकार शास्त्र के अनुकूल नहीं इस पर अधिक लिखना व्यर्थ है ॥

यह सब लेख इन की भूमिका वा टाइटिल पर था । यद्यपि इन के अन्य भूमिकास्थ श्लोकों पर भी कुछ लिख सकते हैं पर तो भी स्थालीपुलाक न्याय से थोड़ा लिख दिया । अब आगे देखिये—ग्रन्थारम्भ के प्रथम श्लोक के "शास्त्राणां च सतां मुदे" इस चतुर्थ पाद में चकार अनर्थक और असम्बद्ध है । पद्य रचना का सामर्थ्य न होने से जब कोई पद नहीं मिलते तो पण्डितम्मन्य अधकचरे लोग ऐसे ही जोड़ तोड़ के अपना श्लोक पूरा करते हैं जिस से इन की शीघ्र पोल खुल जाती है । समुच्चय अर्थ में चकार हो सकता सो शास्त्रों से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं दीखता जिस के समुच्चयार्थ चकार मान लिया जावे । अहो ! भूल गये क्षमा कीजिये चकार सार्थक हो सकेगा । क्योंकि चकार से "अशुद्धीनाम्" यह ले लिया जावे कि शास्त्रों और अशुद्धियों का सङ्ग्रह किया जाता है । इसी का नाम दैवी लीला है कि यद्यपि विचारपूर्वक चकार का कोई अर्थ नहीं माना गया पर दैवी अज्ञान के कारण अशुद्धि बहुत रह गई उन का समुच्चय करने के लिये दैवीशक्ति से चकार भी पढ़ा गया । यहां शास्त्रों का संग्रह करते हैं यह अर्थ भी अशुद्ध है । क्योंकि सब शास्त्र इकट्ठे कर दिये जावें तो शास्त्रों का संग्रह ही सो यह तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है । और सब शास्त्रों के इकट्ठे कर देने मात्र में कुछ फल वा पण्डिताई भी नहीं पुस्तक बेंचने वा छापने वाले आदि साधारण लोग भी पुस्तकरूप सब शास्त्रों को इकट्ठा कर सकते हैं ॥

इस पर हमारे प्रतिपक्षी कदाचित् कहेंगे कि "शास्त्राणाम्" इस के स्थान में "शास्त्रवचसाम्" ऐसा आशय ठीक मानना चाहिये । सो यह प्रमाद है । मनुष्य कहने से उस का हाथ पग आदि कोई अवयव नहीं समझा जाता अर्थात् स-

मुदाय से अवयव का बोध नहीं हो सकता इस लिये "शास्त्राणां संग्रहः क्रियते" यह कथन असम्बद्ध प्रलाप है ॥

आगे "मनुष्येणाहर्निशं किमवश्यं करणीयम्" मनुष्य को दिन रात वा प्रत्येक समय क्या अवश्य करना चाहिये इस मूल पर (आत्मा वा अरे०) इत्यादि प्रमाण से आत्मज्ञान करना ठहराते हैं परन्तु यह उस मूल प्रमाण से नहीं निकलता कि प्रतिदिन आत्मज्ञान ही करना चाहिये। जैसे (ब्राह्मणो होममन्वहम्। म० ३। ८४) यहां "अन्वहम्" शब्द से प्रतिदिन होम करना लिखा गया है तथा चाणक्यनीति में—

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कस्याहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥

लिखा है कि कौन काल कौन मित्र कौन वा कैसा देश कैसे आय व्यय (आमद खर्च) में किस का अर्थात् मेरा कुल कुटुम्ब वा पितादि का कैसी प्रतिष्ठा वा नाम है और मेरी शारीरिक सामाजिक वा आत्मिक शक्ति कैसी है कैसा काम मैं उठाकर चला सकता हूं। मेरी शक्ति से बाहर क्या है ?। अर्थात् देश काल, मित्र, शत्रु, आय, व्यय, कुल और अपनी शक्ति को बार २ प्रतिदिन सब समय में विचारता रहे अर्थात् सब काम देशकालादि के विचार पूर्वक करे ॥

अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ॥

बिना अनुकूल बल के उस कार्य का आरम्भ करना विनाश का कारण होता है जैसे कोई मनुष्य जितनी दूर तक जल में तर सकता है उस से द्विगुण वा त्रिगुण जलाशय में तरना प्रारम्भ कर देवे तो बीच धार में डूबेगा इस लिये अपनी शक्ति से कई गुण अधिक कार्यों (जिन के पार होना अपनी शक्ति से बाहर हो) का प्रारम्भ न करे। इत्यादि विचार प्रतिदिन वा प्रति समय करने को शास्त्रकारों ने स्पष्ट लिखा है सो अवश्य करना भी चाहिये। परन्तु " आत्मा वा अरेद्रष्टव्यः०" इत्यादि वाक्य में ऐसा कोई शब्द नहीं जिस

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

४ भाग	संवत् १९४७	अङ्क ८

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

गत पृ० १०८ पङ्क्ति १४ से आगे

मन्नालाल शर्मा का शेष उत्तर ॥

विशेष बल देना आवश्यक नहीं समझते क्योंकि प्रश्न का सामान्य उत्तर हो गया विशेष की अवधि नहीं । पर यह अवश्य ध्यान में रहे कि विश्वासघात करना वा किसी धर्मात्मा से छल कपट पूर्वक वर्त्तना यही सर्वोपरि अधर्म और इस से बचना सर्वोपरि धर्म है विश्वासघात करने से मनुष्य बेधर्म हो जाता है और उस के सर्वथा छोड़ देने और अपनी सत्यप्रतिज्ञा के साथ कार्य करने से धार्मिक हो जाता है । "और बेधर्मी होने के पश्चात् किन कार्यों के करने से फिर धार्मिक हो जाता है" इस वाक्य का यदि यह अभिप्राय हो कि जैसे एक मनुष्य ब्राह्मणादि किसी समुदाय के भीतर है और उस ने अपने समुदाय के व्यवहार त्याग कर अन्य आर्य वा म्लेच्छादि किसी समुदाय के अनुकूल आचरण स्वीकार किये तो पहिला समुदाय उस को बेधर्म कहता और पिछला उस को धर्मात्मा कहता है तो इस का उत्तर यह है कि यदि उस मनुष्य ने पिता माता अपने पूर्वोपकारियों की आज्ञा से विरुद्ध नहीं किया उन का विश्वासघात भी नहीं किया तथा पूर्व समुदाय में रह कर वह ठीक २ वा विशेष धर्मकार्य नहीं कर सकता था और नवीन समुदाय

में जा कर विशेष कार्य कर सकता है वा नवीन समुदाय में वस्तुतः धर्म अधिक है तो वह अधर्मी नहीं हुआ किन्तु धर्मात्मा ही है०। उस को यदि कोई अधर्मी कहे तो यह लौकिक परिपाटी है । चोर खल दुष्ट धूर्त्त प्रायः अपने से प्रतिकूल धर्मात्माओं को भी बुरा कहते ही हैं। कहीं २ चोर भी साहूकार को चोर बना कर दण्ड देते हैं यह भी संसार में वर्त्तमान ही है पर इस से धर्मात्मा अधर्मी वा अधर्मी धर्मात्मा नहीं हो सकते । और जिस ने पिता मातादि के साथ विश्वासघात किया उन की सेवा शुश्रूषा छोड़ के अन्य को पिता मातादि बनाया तो वह वास्तव में अधर्मी हो गया वह यदि असाध्य वेधर्म रूप रोग से युक्त हो गया तो शरीरान्तर वा जन्मान्तरों में जाकर बहु काल तक धर्म का सेवन करे तब धार्मिक हो सकता है । और यदि साध्य है तो प्रायश्चित्तादि रूप ओषधि से फिर धर्मात्मा हो सकता है । और यदि किसी समुदाय में मिलने न मिलने से तात्पर्य नहीं केवल आचरण मात्र से प्रयोजन है तो जैसे कठोरता वा बहुत दिनों तक विश्वासघातादि दुष्ट कर्मों के सेवन से अधर्मी हो जाता है वैसे ही प्रबल पुण्य वा अधिक दिनों तक निष्कपट प्रीति पूर्वक ईश्वर के आराधन वा सत्याचरणादि धर्माचरण करने से फिर धर्मात्मा हो सकता है । अर्थात् तात्पर्य यह है कि जैसे वस्त्र पर जो मोटा मैल चढ़ जाता है उस में कुछ तो झाड़ने मात्र से मट्टी आदि के झड़ जाने से छूट जाता तथा कुछ साधारण रीति पर जल में पछोरने से धोया जाता है इसी प्रकार जो अति सूक्ष्म मैल सूतों के सूक्ष्म हिस्सों वा अवयवों के साथ सम्बन्ध कर जाता है उस मैल को छुड़ाने के लिये धोबी को विशेष बुद्धि वा परिश्रम करने पड़ता है तब वह मैल छूटता है साधारण धोबियों का काम नहीं कि जो मर्मों में व्याप्त मल को निकाल देवें। उसी अति सूक्ष्म मैल को पक्का रंग भी कहते हैं जैसे नीली का रंग पक्का है तथापि शिल्पक्रिया में प्रवीण धोबी उस को छुड़ा कर वस्त्र को श्वेत निकाल दे सकता है । क्योंकि वह रंग कृत्रिम है । और कृत्रिम वस्तु न्यायानुकूल अनित्य है । यदि हम को पक्के रंग का छुड़ाने वाला कोई धोबी न मिला वा न मिलता हो तो क्या कोई विद्वान् कृत्रिम को नित्य मान सकता है ? कदापि नहीं । तथा रोग भी जो चर्मगत है वह स्थूल और उस की अपेक्षा जो रुधिरादि अधिक सूक्ष्म धातुओं में प्रविष्ट होता जाता है वह अधिक २ सूक्ष्म होता जाता है जो मर्मस्थलों से

सम्बन्ध कर जाते हैं वे ही राजरोग हैं। उन को हटाने के लिये यत्न भी बहुत प्रबल सावधानी से करने पड़ते हैं ऐसे रोगों को हटाने के लिये बड़े विद्वान् सर्वशास्त्रज्ञ वैद्य की आवश्यकता है। इसी प्रकार हृदय वा अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध रखने वाली मलीन वासनाओं का नाम पाप है उन्हीं को संचित पाप भी कह सकते हैं उन्हीं का नाम अविद्या भी है। परन्तु जब उसी अन्तःकरण में शुभ-गुण धर्म विद्या आदि को रक्खा जाता है तो अन्धकाररूप पाप वा मैल वहां से दूर हो जाता है। वह पाप अनेक प्रकार का होता है उसी के अनुसार धर्मरूप ओषधि रखने वाला वैद्य परीक्षा कर रोगी को उपाय बतावे वा करावे तो उस पाप के दूर होने से वह फिर धर्मात्मा हो सकता है। इस विषय पर बढ़ाने से अन्त नहीं दीखता इस लिये अब समाप्त करते हैं॥

गत ११२ पृष्ठ से आगे सद्धर्म-दूषणोद्धार का उत्तर ॥

से प्रतिदिन वा प्रतिसमय आत्मज्ञान की आज्ञा हो। और यह कदापि ठीक भी नहीं यदि शास्त्रकारों को सर्वदा आत्मज्ञान ही कराना इष्ट होता तो चार आश्रम नहीं बनाये जाते क्योंकि चार आश्रमों में पृथक् २ कर्मों के भेद होते हैं। प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में सब प्रकार की विद्या और शिक्षा को प्राप्त करे अर्थात् मुख्यकर शारीरिक और आत्मिक विचारशक्ति को बढ़ावे जिस से अगला गृहाश्रम ठीक २ सुखदायी हो। द्वितीय गृहाश्रम में धनादि का श्रेष्ठमार्ग से उपार्जन, तथा सुपात्रों वा सुमार्ग में व्यय करे। दीन अनाथ वा स्त्रीपुत्रादि की रक्षा विद्या की वृद्धि सन्तानों की उत्पत्ति आदि धर्म पूर्वक काम करे वानप्रस्थ तीसरी अवस्था में अन्तःकरण की शुद्धि के लिये तप करे और चौथी अवस्था जब अत्यन्त बुढ़ापा आजावे और शरीर से कुछ परिश्रम न कर सके तब आत्मज्ञान किया करे। मनुष्य एक साथ सब काम कर भी नहीं सकता इस लिये भी आश्रम भेद किये गये। यदि गृहाश्रमादि में भी आत्मज्ञान के उपाय किया करे तो गृहाश्रमादि के कृत्य को कदापि पूरा नहीं कर सकता इस लिये धर्म का आचरण अवश्य करे और वेदोक्त सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर्म गृहस्थ नित्य किया करे जिस से चतुर्थाश्रम में अवश्य आत्मज्ञान का पात्र हो जावे। परन्तु परमेश्वर

की प्रार्थना उपासनादि प्रारम्भ से ही सब आश्रमों में अवश्य करता रहे । यही कर्त्तव्य वेदोक्त सिद्धान्त के अनुकूल हो सकता है ।

यद्यपि मैं यह वार्त्ता पहिले भी लिख चुका हूं कि इन लोगों के प्रत्येक वाक्य वा पंक्ति पर मैं नहीं लिखूंगा । तथापि यह जता देना उचित समझा गया कि इन लोगों का प्रयत्न-चूहे को पकड़ने के लिये पलटन जोड़ने के समान है । परन्तु मैं इन के प्रत्येक आशय पर कुछ न कुछ अवश्य लिखूं गा । कहीं २ दो एक पंक्ति में कहने योग्य विषय को इन लोगों का लेख कई पत्रों तक गया है । जैसे आत्मज्ञान मनुष्य को करना चाहिये इस को थोड़े में कह सकते थे सो बहुत बढ़ा कर कहने पर भी सार अच्छा नहीं निकला । आगे आत्मज्ञान के कर्त्तव्य होने में भागवत का प्रमाण दिया है इस के बदले यदि वेद वा स्मृति का प्रमाण देते तो प्रतिज्ञानुकूल होता क्योंकि इन्हीं ने प्रमाण की प्रतिज्ञा में श्रुति स्मृति को पहिले रक्खा है ॥

एक और भी इन की बात विद्वानों के हँसने योग्य होगी कि भागवत के श्लोक में आत्मा वा परमात्मा के अनुकूल न चलने वाले को आत्महा कहा है सो तो ठीक है क्योंकि आत्मा से विरुद्ध चलना ही अधर्म वा अन्याय है उस से अपने आत्मा को दुःखसागर में डालने वाला आत्मघाती हो सकता है । परन्तु पं० हरि० जी इस का और ही आशय निकालते हैं कि जो मुक्ति का यत्न नहीं करता वह कीट पतङ्गादि योनि में जन्म पाता है । इन महात्मा से कोई पूछे कि संसार में मनुष्य धर्मसम्बन्धी काम करता है कि जिन से मनुष्यों के समुदाय में उत्तमोत्तम अधिकार राज्यादि ऐश्वर्य पावे तो क्या वह भी कीट पतङ्गादि होगा क्या अच्छे कामों का भी कभी बुरा फल होता है ? । यदि यह ठीक नहीं तो वह लेख भी प्रमादजन्य है इसी के अनुसार यजुर्वेद के मन्त्र " असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः " का तात्पर्य है कि जो अपने आत्मा में अन्तःकरण से विरुद्ध आचरण करते हैं । आत्मा में जैसा है उस से विपरीत बोलते तथा परमात्मा की वेदोक्त आज्ञा से विरुद्ध चलते हैं । वे अपने आत्मा को महासङ्कट में डालने वाले होने से आत्मघाती वा आत्महा कहाते हैं । वे दुःखप्राय योनियों वा देशों में वा समुदायों में जन्म पाते हैं । इस तात्पर्य को न समझ कर कहां का कहां ऊट पटांग अर्थ लगाया है ॥

इति सद्धर्मदूषणोद्धारस्थप्रथमपरिच्छेदस्योत्तरम् ॥

अब द्वितीय परिच्छेद के आरम्भ में आत्मज्ञान से जो मुक्तिमानी सो तो ठीक है। परन्तु संसार को अज्ञान से कल्पित मानना साक्षात् अज्ञान है। जब सब जगत् मिथ्या है तो सांप, रस्सी भी संसारी पदार्थ होने से मिथ्या हो गये फिर मिथ्या वस्तु का दृष्टान्त देना नहीं बन सकता इस कारण जगत् से भिन्न कोई दृष्टान्त दिया जाता कि जिस को मिथ्या न मानते होते तब तो ठीक था जब दृष्टान्त ही ठीक नहीं तो पक्ष भी नहीं ठहर सकता। अर्थात् जिस ने यह मिथ्या पक्ष उठाया है उसी का बनाया दृष्टान्त भी है और पक्ष की सिद्धि के लिये दृष्टान्त की कल्पना करते हैं। जब दृष्टान्त नहीं बनता तो वह पक्ष ही मिथ्या हो गया। इस को भी "साध्यसमहेत्वाभास" कह सकेंगे क्योंकि जगत् का मिथ्यात्व साध्य है तो जगत् के अन्तर्गत जो हेतु वा दृष्टान्त दिया जायगा वह भी साध्य है। जब साध्य है तो हेतु वा दृष्टान्त साध्य का नहीं दे सकते। जिस का दृष्टान्त वा हेतु नहीं वह पक्ष भी गिरा समझना चाहिये। इस विषय पर आर्यसिद्धान्त के अनेक प्रसङ्गों में तथा माण्डूक्यादि उपनिषदों के भाष्य में विशेष लिखा गया है जिन को विशेष देखना हो वहां देख लें यहां फिर २ लिखना पुनरुक्त होगा। अब आगे मुक्ति के भेद दिखाये हैं। परन्तु इस में श्रुति वा स्मृति का प्रमाण कोई नहीं दिया कि इस प्रमाण के अनुसार चार प्रकार की मुक्ति है। और कहते हैं कि सायुज्य अर्थात् परमेश्वर के साथ मित्र के तुल्य मिल कर जीव का रहना सायुज्य मुक्ति है यह मुक्ति वेदान्त वाक्यों के जान लेने से हमें हो जाती है तथा अन्य मुक्ति भक्ति आदि से भी सिद्ध होती हैं। और साधनों की प्रबलता होने से भक्ति से भी सायुज्य मुक्ति हो सकती है। यह उपरोक्त इन का कथन भी ठीक नहीं क्योंकि मुक्ति में भेद मानना ही प्रथम तो ठीक नहीं—साकार वस्तुओं में भेदवाद बन सकता है जब परमेश्वर का कोई आकार नहीं तो उस के साथ जीवात्मा मित्रभाव से रहता है यह नहीं कह सकते। तथा वैसे ही सामीप्य सालोक्य भी साकार में ही बन सकती हैं कि कोई एक स्थल में रहने वाला परमेश्वर माना जावे तो उस के पास जीव जाकर रहै यह सामीप्य तथा जीवात्मा परमात्मा दोनों किसी एक लोक में रहैं तो सालोक्य मानी जावे सो जब अनेक प्रमाणों से ईश्वर का साकार होना सिद्ध नहीं होता तो ये मुक्ति के भेद मानना भी मिथ्या हैं।

अब अन्तःकरण की शुद्धि के लिये धर्म का सेवन और शरीर शुद्धि के लिये गर्भाधानादि संस्कारों का करना तथा अन्तःकरण की शुद्धि से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति मानना यह सिद्धान्त तो शास्त्र के अनुकूल है इस लिये इस अंश में हरिशङ्करलाल शास्त्री का लिखना ठीक है परन्तु संस्कारों की गणना ऊट पटांग है अर्थात् अनुमान होता है कि इसी कारण इन्हों ने किसी का प्रमाण नहीं लिखा वा इन्हें नहीं मिला। कदाचित् किन्हीं लोगों ने इन के लिखने अनुसार भी सोलह संस्कार माने हों परन्तु उन का मानना वेद वा धर्मशास्त्रानुकूल नहीं हो सकता। क्योंकि मनु आदि स्मृतियों में भूम्युपवेशन, कटिसूत्रबन्धन और अक्षरारम्भ संस्कारों का कहीं पता तक नहीं लगता इस से अनुमान होता है कि इन के संस्कार ऊट पटांग हैं। देखो व्यास स्मृति में सोलह संस्कार यों गिनाये हैं:-

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया ॥१॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः ॥२॥
त्रेताग्निसङ्ग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः ॥

इस प्रमाण के अनुसार पं० हरिशङ्करलाल जी ने केशान्त १ विवाहाग्निपरिग्रह नाम गृहाश्रम वा चतुर्थी कर्म २ त्रेताग्निसंग्रह नाम वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण और संन्यास भी इसी के अन्तर्गत आ सकता है। इन तीनों को नहीं माना क्या उक्त पण्डित जी की संस्कारविषयक गणना व्यास स्मृति से विरुद्ध नहीं हुई ?। क्या ये व्यास वा मनु की स्मृति को नहीं मानते ?। और इन के नवीन माने संस्कार विशेष उपयोगी भी नहीं क्योंकि भूम्युपवेशन को नवीन संस्कार माना जावे तो ऐसे सैकड़ों संस्कार मान्य हो सकते हैं। जैसे प्रासादारोहण, फलाहरण, लेखनारम्भ, पठनारम्भ, शिखारक्षण, शिखाबन्धन, इत्यादि। जिस समय बालक भूमि में बैठने योग्य होगा तब स्वयमेव बैठने लगेगा। यदि कहो कि नवीन उसी समय भूमि का संसर्ग कराया जाता है तो ठीक नहीं क्यों कि बालक जन्म लेते ही माता के पेट से पृथिवी पर गिरता और उसी समय

स्वयमेव पृथिवी का स्पर्श कर लेता है । इस से उत्पन्न होते ही स्वयमेव भूम्युपवेशन हो जाता है किसी पृथक् संस्कार के मानने की आवश्यकता नहीं । कटिसूत्रबन्धन में किसी संस्कार की आवश्यकता नहीं क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम के प्रारम्भ वेदारम्भसंस्कार में मन्त्रपूर्वक मेखला पहनायी जाती है । यदि कटिसूत्र बांधने का कोई निज संस्कार होता तो वेदारम्भ संस्कार में मेखला का विधान न होता । और मेखला, कटिसूत्र-कन्धनी (कटिधरणी) ये सब एकार्थ ही शब्द हैं । अक्षरारम्भ संस्कार भी नहीं कराना चाहिये क्योंकि इसी लिये वेदारम्भ संस्कार तेजस्वी बालकों को पांचवें वर्ष में कहा और साधारण प्रकार आठ वर्ष में कहा है इस से पूर्व पढ़ने की शक्ति भी नहीं होती । इस कारण उक्त पं० हरि० जी का संस्कारविषयक परिगणन वेद वा धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से विपरीत होने से अमान्य है । अर्थात् विचारशीलों को त्याज्य है ॥

तीन वर्णों को धर्म का सेवन करना चाहिये इस से आया कि शूद्र धर्म का सेवन न करे तो क्या अधर्म करे ? । यदि ऐसा है तो-

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥

इत्यादि वचनों से चार वर्णों के लिये मनु आदि ने कहा धर्म क्या मिथ्या है ? । अहो ! बड़े आश्चर्य की बात है कि धर्मशास्त्र वाले पुकार २ शूद्रसहित चारों वर्णों के लिये धर्म करना बतलाते हैं और हमारे प० हरि० जी शूद्र के लिये धर्म नहीं कहते अर्थात् इन के विचारानुसार शूद्र को हिंसादि अधर्म करने चाहियें क्या ? । क्योंकि तीन वर्णों को धर्म करना चाहिये इस कथन से शूद्र को धर्म नहीं आता और मनु जी के उक्त श्लोक में चारों वर्णों के लिये अहिंसादि धर्म कहने से शूद्र को स्पष्ट धर्म करना सिद्ध होगया । इस कारण पं० हरि० जी का कथन मनुस्मृति धर्मशास्त्र से विरुद्ध है ।

धर्म सर्वार्थ साधक है इस कथन से क्या चोरी अन्याय से प्राप्त होने वाले अर्थ नाम धन का भी साधक धर्म है ? ।

इति द्वितीयपरिच्छेदसमीक्षणं समाप्तम् ॥

अब तृतीय परिच्छेद के प्रारम्भ में ही एक अद्भुत वार्त्ता लिखी है कि वेद

का श्रुति नाम इस लिये माना जाता है कि वेद सुना ही जाता है किन्तु काव्यादि के तुल्य विशेष कर उस का अर्थ नहीं जाना जाता इत्यादि ।

विचार का स्थान है कि इन का यह कथन कैसा निर्बल है । अब सब वेदमतानुयायी लोगों का पक्का सिद्धान्त है कि हमारा धर्म वेदमूलक है वेद सब विद्याओं का भण्डार है [यह बात श्रीशङ्कराचार्य स्वामी जी ने भी शारीरक मीमांसाभाष्य के "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र पर स्पष्ट लिखी है] तो यदि वेद का अर्थ जाना नहीं जाता फिर धर्म का मूल कैसे हुआ ? अर्थात् वेद को धर्म का मूल मानने से यही तात्पर्य है कि ध्यान उपासना में तत्पर तपस्वी ऋषि लोगों ने वेद के गूढ़ गम्भीर आशय को जान कर उन का भाष्यरूप स्मृतियां बनायीं इस से वेद मूल हुआ और धर्मशास्त्र शाखारूप हुए इसी कारण वेद की शाखाओं को आर्षव्याख्यान मानना चाहिये । यदि वेद का अर्थ नहीं जाना जाता तो शाखारूप व्याख्यान कैसे हो सकते हैं । और सायण महीधरादि भाष्यकारों ने क्यों व्यख्यान किये ? और उक्त पं० हरिशङ्करलाल जी क्यों वेद प्रमाण देते हैं ? । क्योंकि पाठमात्र के प्रमाण से अभिप्राय सिद्ध नहीं हो सकता । और यह कथन सर्वसाधारण विद्वानों के विचार से भी विरुद्ध पड़ेगा क्योंकि सब का सिद्धान्त है:-

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥

यह पद्य सुश्रुत नामक आयुर्वेद के सूत्रस्थान का है कि जैसे चन्दन का भार ले चलने वाला गर्दभ भारमात्र का ज्ञान रखता है किन्तु उस के सुगन्ध गुण से कुछ भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता इसी प्रकार बहुत से शास्त्रों को वाणीमात्र से पढ़लेने वाला पुरुष यदि उन शास्त्रों के आनन्ददायक तात्पर्यों को नहीं जानता तो केवल बोझ लादने वाला है अर्थात् उस को विशेष फल कुछ प्राप्त नहीं हो सकता । इसी सामान्य कथनानुसार वेद का पाठमात्र पढ़ने वाला भी निष्फल शुष्क निरानन्द रहता है । और वेद का अर्थ जानने के लिये निरुक्त में स्पष्ट लिखा है कि:-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ॥
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥१॥

जो पुरुष वेद को पढ़ कर उस के अर्थ को नहीं जानता वह सूखे वृक्ष के तुल्य निष्फल और गर्दभ के तुल्य भारमात्र का लादने वाला है। तथा जो अर्थ को ठीक २ जानता है वही सम्पूर्ण कल्याण का भागी होता और ज्ञान से शुद्ध हो कर सब दुःख से रहित स्थान को प्राप्त होता है। इस कथन से स्पष्ट सिद्ध होगया कि पूर्वकाल से ही ऋषि लोगों ने वेदार्थ जानने की परिपाटी को यथावत् जान कर चलाया था इसी से वेदार्थ न जानने वालों को वे लोग बुरा समझते थे। इस कारण पं० हरि० जी का यह कहना कि "पाठमात्र सुनते आये अर्थज्ञान नहीं किया जाता इसलिये श्रुति कहते हैं" कदापि ठीक नहीं। अब वेद का श्रुति नाम क्यों हुआ? इस पर मैं पहिले भी एक दो बार किन्हीं प्रसङ्गों पर लिख चुका हूं कि सब विद्याओं का श्रवण पठन और उपदेश जिन के द्वारा प्राप्त हुआ वे श्रुति वाक्य कहाये। अर्थात् अनेक ऋषियों ने वेदवाक्य सुन कर ही अपने अनुभव से अनेक विद्या जानी इस लिये वेद का नाम श्रुति रक्खा गया। यह करणकारक में श्रुतिशब्द की सिद्धि है और अनेक लोग इस श्रुति शब्द को कर्मसाधन भी मानते हैं कि "श्रूयते या सा परम्परातो न केनचित्तेषां वाक्यानां पुरुषविशेषः कर्त्ता कदापि दृष्ट इति श्रुतिः" जिस को सब लोग परम्परा से सुनते चले आते हैं कि यह परमात्मा की अनादि विद्या है किन्तु किसी ने उन वेद के वाक्यों का बनाने वाला कोई पुरुष विशेष कभी देखा नहीं इस से उन को श्रुति कहते हैं यह तात्पर्य प्रायः लोगों के अनुकूल है सब विद्वान् लोग ऐसा ही मानते हैं। यह द्वितीय वार्त्ता है कि पं० हरिशङ्करलाल जी के तुल्य कोई हठ करे कि वेद का अर्थ नहीं जाना जाता इसलिये यह श्रुति है। अब इस उक्त सब प्रमाण वा लेख से पं० हरि० जी का कथन सब को निर्मूल ज्ञात हो जायगा। विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं॥

अब आगे इन की पण्डिताई पर थोड़ा और भी ध्यान दीजिये आप लिखते हैं कि "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामिति सूत्रात्करणेऽपि क्तिन् प्रत्ययः" अर्थात् अकर्त्तरि० ३। ३। १९। सूत्र से स्मृतिशब्द में करणकारक में भी क्तिन् प्रत्यय हो गया है। इस पर कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं किन्तु व्याकरण पढ़ने वाले छोटे २ विद्यार्थी भी कह देंगे कि अकर्त्तरि० सूत्र से घञ् प्रत्यय होता है वहां क्तिन् का कहीं नाम निशान तक नहीं और न किसी टीकाकार

वा भाष्यकार ने उक्त सूत्र में क्तिन् दिखाया। सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजी दीक्षित ने स्पष्ट वृत्ति लिखी है कि "कर्त्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात्" और यही काशिकाकार का आशय है फिर पं० हरि० जी का इस सूत्र से करण में क्तिन् मानना वा कहना क्योंकर ठीक है ? इस से सब वैयाकरणों को इन महात्मा की व्याकरणानभिज्ञता भी स्पष्ट ज्ञात हो जायगी ॥

आगे मनुस्मृति के द्वितीयाध्यायस्थ धर्मविषयक दो तीन श्लोक उक्त महाशय ने लिखे हैं। उन का जैसा ठीक २ अर्थ लिखना चाहिये वैसा इन से नहीं बना अर्थात् तुच्छ वा पोच अर्थ लिखा गया है जिस में अनेक तर्क उठ सकते हैं पर कोई ऐसी विशेष बात नहीं जिस पर कुछ लिखा जावे। क्योंकि मैं साधारण बातों पर कुछ लिख कर अपना समय व्यर्थ बिताना नहीं चाहता

ऋग्वेदस्थ मित्र सूक्त का अर्थ ॥

(श्रीकुमार ज्वालाप्रसादकृत)-

ऋग्वेद अ० ४, व०, ५, मं० ३, अ० ५, सू० ५९ ।

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ॥
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥ १ ॥

अर्थः—(ब्रुवाणः) स्तूयमान अथवा वेदरूपी शब्द द्वारा उपदेश करने वाला (मित्रः) सब का हितकारी, अपने उपासकों का सखा, परमेश्वर (जनान्) जनों को (यातयति) अपने २ कामों में लगाता है (मित्रः) जगत् का रक्षक परमेश्वर (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) प्रकाशयुक्त अन्तरिक्ष का (दाधार) धारण करता है (मित्रः) भक्तवत्सल परमेश्वर (अनिमिषा) अनुग्रह दृष्टि से (कृष्टी) काम वाले मनुष्यों को (अभिचष्टे) सब ओर से देखता है अर्थात् रक्षा करता है (मित्राय) ऐसे मित्र के लिये (घृतवत्) घृतयुक्त (हव्यम्) हवि को (जुहोत) हवन करो ॥ १ ॥

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन ।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥२॥

अर्थः —(आदित्य !) हे अखण्डनीय, तेजःस्वरूप परमेश्वर (व्रतेन) व्रत-नियम से युक्त (यः) जो मनुष्य (ते) तेरी (शिक्षति) उपासना करता है

(मित्र !) हे भक्तप्रेमी परमेश्वर ! (सः) वह (मर्तः) मरणधर्म वाला मनुष्य (प्रयस्वान्) आनन्द वा धनयुक्त (प्र, अस्तु) सम्यक् प्रकार से हो, (त्वोतः) तुझ से रक्षा किया गया वह मनुष्य (न) न (हन्यते) मारा जाता है (न) न (जीयते) पराजित होता है, (न) न (एनम्) ऐसे मनुष्य को (अंहः) क्लेश वा पाप (अन्तितः) पास से (न) न (दूरात्) दूर से (अश्नोति) घेरता है ॥ २ ॥

अनमीवास इळया मदन्तो मितज्ञवो वरिमन्ना पृथिव्याः ।
आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम ॥३॥

अर्थः—(अनमीवासः) क्लेश वा पाप रहित, (इडया) ईश्वर की स्तुति करने के द्वारा (मदन्तः) हर्ष को प्राप्त होते हुये (मितज्ञवः) परिमित ज्ञान वाले, (पृथव्याः) पृथिवी के (वरिमन्) विस्तीर्ण प्रदेश में (आ) यथेच्छ सर्वत्र जाने वाले, (आदित्यस्य) अविनाशी परमेश्वर के (व्रतम्) नियम को (उपक्षियन्तः) सेवन करते हुये, (वयम्) हम लोग (मित्रस्य) सर्वरक्षक परमेश्वर की (सुमतौ) शोभन, कृपायुक्त मति में (स्याम) होवें ॥

अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ४ ॥

अर्थः—(अयम्) यह (मित्रः) सर्वरक्षक परमेश्वर (नमस्यः) नमस्कार करने के योग्य है (सुशेवः) शोभन सुखयुक्त है (राजा) सब जगत् का प्रकाशक और स्वामी है (सुक्षत्रः) शोभन बलयुक्त है (वेधाः) सब जगत् का विधाता है (अजनिष्ट) ऐसा परमेश्वर स्वयं प्रकट हुआ—(तस्य) उस (यज्ञियस्य) यजनीय परमेश्वर की (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करने वाले (सौमनसे) सौमनस्य अर्थात् अनुग्रह में (स्याम) हम लोग होवें ॥

महाँ आदित्यो नमसोपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेवः ॥
तस्मा एतत्पन्यतमाय जुष्टमग्नौ मित्राय हविरा जुहोत ॥ ५ ॥

अर्थः—(महान्) बड़ा (आदित्यः) अखण्डनीय परमेश्वर (नमसा) नमस्कार से (उपसद्यः) उपास्य है (यातयज्जनः) वह जनों को अपने २ कामों में लगाता है (गृणते) ईश्वर की स्तुति करने वाले मनुष्य के लिये (सुशेवः) शोभन सुख

का देने वाला है (तस्मै) उस (पन्यतमाय) अत्यन्त स्तुति करने के योग्य (मित्राय) परमेश्वर के लिये (जुष्टम्) प्रीतिविषयं (एतत्) इस (हविः) हवि को (अग्नौ) अग्नि में (जुहोत) हवन करो ॥

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि ।
द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥ ६ ॥

अर्थः-(चर्षणीधृतः) मनुष्यों के धारण करने वाले (देवस्य) द्योतनादि गुणयुक्त (मित्रस्य) परमेश्वर का (अवः) रक्षण (सानसि) सर्वसंभजनीय है और उस का (द्युम्नम्) तेज (चित्रश्रवस्तमम्) अति आश्चर्यकारक और अतिकीर्तियुक्त है ॥

अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः ।
अभि श्रवोभिः पृथिवीम् ॥ ७ ॥

अर्थः-(यः) जो (मित्रः) परमेश्वर (महिना) अपनी महिमा से (दिवम्) प्रकाशयुक्त अन्तरिक्ष को (अभि, बभूव) पराभूत करता है तथा (श्रवोभिः) अपनी कीर्त्तियों से (पृथिवीम्) पृथिवी को (अभि) पराभूत करता है (सप्रथाः) वह परमेश्वर प्रसिद्ध कीर्तियुक्त है अर्थात् ईश्वर की महिमा पृथिवी और द्युलोक से कहीं चढ़ बढ़ कर है ॥

मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे ।
स देवान् विश्वान्बिभर्ति ॥ ८ ॥

अर्थः-(पञ्चजनाः) चारो वर्ण और निषाद् यह पांच लोग अथवा गन्धर्वादि पांच जन अथवा पांच प्राण (अभिष्टिशवसे) अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त (मित्राय) परमेश्वर की (येमिरे) उपासना करते हैं (सः) वह परमेश्वर (विश्वान्) सब (देवान्) दिव्य पदार्थों का (बिभर्ति) धारण करता है ॥

मित्रो देवेष्वायुषु जनाय वृक्तबर्हिषे । इष इष्टव्रता अकः ॥९॥

अर्थः—(देवेषु) द्योतनादि गुणयुक्त जनों और (आयुषु) अन्य प्राणधारियों में से (वृक्तबर्हिषे) यज्ञ में कुशा को काटने वाले अर्थात् यज्ञ करने वाले (जनाय) मनुष्य को (मित्रः) परमेश्वर (इष्टव्रताः) वांछितकर्मों के साधक (इषः) अन्नों वा अन्नों को (अकः) देता है ॥

करनी
ज़िला कांड़ा } { कुमार ज्वालाप्रसाद

ओ३म्

आर्य्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ४ } संवत् १९४७ { अङ्क ९

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त १० का विचार

निघण्टु अ० ५ खं० ४ में यम का अर्थ मध्यस्थान देवता (वायु) लिया गया है। और नि० अ० ५ खं० ६ में यम का अर्थ द्युस्थान देवता अस्त होते समय का सूर्य लिया गया है। वास्तव में उदयास्त समय सूर्य से उत्पन्न होने वाले प्रकाश का नाम यम है और इसी लिये विवस्वान् नाम सूर्य के पुत्र को वैवस्वत यम माना गया है और यमी नाम रात्रि वा अन्धकार का है उस की सत्ता का विभाग भी [कि यह रात्रि वा अन्धकार है] सूर्य से ही होता है अर्थात् जहां सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंचता उसी का नाम रात्रि है इस प्रकार से दोनों दिन राति सूर्य से सरण्यूनामक उषःकालरूप सूर्य की स्त्री में उत्पन्न होते हैं। निघण्टु अ० ५ खं० ६ में सरण्यू शब्द द्युस्थान देवता उषा का वाचक लिया गया है। यद्यपि सूर्य की दुहिता कहीं २ उषा को माना वा लिखा गया है क्योंकि उषा सूर्य से उत्पन्न होने से उस की कन्या स्थानस्थ हुई तथापि उषा में सूर्य का किरणरूप वीर्य पड़ने से यम यमी दिन रात्रि उत्पन्न हुए तो वह सूर्य की जायारूप स्त्री होगयी और कन्या वा दुहितृभाव भी बना रहा। और सरण्यू शब्द उषा का वाचक वेद में बहुत स्थलों में आता है। उषःकाल में प्रकाशान्धकार दोनों कुछ २ मिले रहते हैं यही दिन रातरूप यम यमी का गर्भस्थान है यहीं से दोनों का विभाग होता है जिस देश में उषःकाल होता वहां से सूर्य की ओर सदा दिन होता और

दूसरी ओर रात्रि रहती है । यह एक प्राकृत नियम दिखाया है कि एक सूर्य से स्त्रीरूप उषा में उत्पन्न हुए यम यमी नाम रात्रि दिन स्वभाव से ही अलग रहते हैं कभी एक दूसरे का मेल नहीं होता इसी सृष्टिक्रम के नियमानुसार भाई बहिन का विवाह वा व्यभिचार नहीं होना चाहिये । यदि प्रकाश अन्धकार में मिल जाय वा दिन रात में मिल जाय तो शुद्ध प्रकाश नहीं रह सकता । यह नियम है कि निकृष्ट असुर कोटिस्थ अन्धकारादि उत्तम देवकोटिस्थ प्रकाशादि से मिल के उन के शुद्धस्वरूप को कलङ्कित करना चाहते हैं तथापि प्रकाशादि स्वाभाविक (कुदरती) नियम से ही अलग रहते हैं नीच से नहीं मिलते इसी आशय का इस सूक्त में वर्णन है ॥

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् । पितुर्नपातमादधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

ओ । चित् । सखायम् । सख्या । ववृत्याम् । तिरः । पुरु । चित् । अर्णवम् । जगन्वान् । पितुः । नपातम् । आ । दधीत । वेधाः । अधि । क्षमि । प्रतरम् । दीध्यानः ॥१॥

अ०—यमी रात्रिराह—(ओ, चित्) हे यम दिवस ! (अर्णवम्, जगन्वान्) विस्तृतमन्तरिक्षप्रदेशं गतः स्वप्रकाशेन शोभमानोऽसि (पुरु, चित्) बहुतरमिव (तिरः) तमोरूपत्वात्तिरोभूता प्रच्छन्ना सत्यहम् (सखायम्) त्वदीयं सत्त्वप्रकाशसुखमनुभवितुं समानख्यातिं [मया सहैवोच्यमानमहोरात्रौ सहैवोच्येते इदमेव समानख्यातेस्तयोः सखित्वम् । सखिशब्दस्यायमेवार्थो निरुक्ताद्यनुमतो बोध्यः] त्वाम् (सख्या) सखिभावेन (ववृत्याम्) प्राप्नुयां समागता भवेयम् [वर्त्तत इति निघण्टौ गतिकर्मसु पठितः।

अ० २ । १४] अपि च (अधि, क्षमि) पृथिव्या उपरि (दीध्यानः) दीप्यमानः [दीधीङ्धातोरूपमेतत्] (वेधाः) कर्मणां विधिहेतुर्भवान्-[दिवसे हि सर्वकर्माणि विधीयन्ते न रात्रौ मनुनाप्युक्तम्-"रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः" विधाञो वेध च ४ । २२५ इत्युणादिसूत्रेण वेधःशब्दस्य सिद्धिः] (पितुः) स्वोत्पादकस्य सूर्यस्य सम्बन्धि (प्रतरम्) प्रकृष्टम् (नपातम्) नष्टभूतमपत्यम् (आदधीत) मत्समागमेनोत्पादय ॥

भा०-यथा सूर्यसंयोगेनोषस्तोऽहोरात्रावुत्पद्येते तथा तयोरपि संयोगेऽन्यः कश्चित्प्रकार उत्पद्येतेति सम्भवति स चाहोरात्रयोः संयोगः प्रकृतिविरुद्धएवास्ति तस्मात्तौ न कदापि संयुज्येते। ध्वनितार्थे च कंचिद्धृतब्रह्मचर्यं तपस्विनं तेजस्विनं शोभमानं युवानं काचिन्निकृष्टा स्त्री समागन्तुं यदि याचेत तथापि तया समागमस्त्याज्यएवास्ति । निकृष्टानां तमोगुणिनां स्वाभाविकं कृत्यमिदं यत्सात्त्विकानामसत्यामपीच्छायां स्वयमेव तैः समागन्तुं सहाचरितुं च सर्वोपायैः प्रयतन्ते प्रलोभयन्ति प्रवञ्चयन्ति च नतु धार्मिकस्तेषां वशमागच्छेदिति मन्त्राशयः। मनुनाप्युक्तम्- "वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च । तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १ ॥" ॥१॥

भाषार्थः-यमी नामक रात्रि कहती है कि—(ओ, चित्) हे यम नामक दिवस ! (अर्णवम्, जगन्वान्) विस्तृत अन्तरिक्षप्रदेश को प्राप्त अपने प्रकाश से शोभित (पुरु, चित्) अत्यन्त अधिक (तिरः) अन्धकार रूप से दबी हुई मैं तुम्हारे सरस प्रकाश सम्बन्धी सुख का अनुभव करने के लिये (सख्यम्) मेरे साथ कहे जाने वाले [अर्थात् दिन रात दोनों साथ ही बोले जाते हैं यही उन दोनों में सखापन है और यही अर्थ निरुक्तादि के अनुकूल भी

जानो] तुझ को (सख्या) उक्त सखिपन के साथ (ववृत्याम्) प्राप्त होऊं तुझ से मिलूं और (अधि, क्षमि) पृथिवी पर (दीध्यानः) प्रकाशमान (वेधाः) कर्म होने के निमित्त तुम [क्योंकि दिन में ही सब कर्म होते हैं रात्रि में नहीं मनु जी ने भी प्रथमाध्याय में कहा है कि " परमेश्वर ने प्राणियों के सोने को रात्रि और कर्म करने को दिन बनाया" इस से दिन कर्मों का विधाता सिद्ध है] (पितुः) अपने उत्पादक सूर्य के वंश में (प्रतरम्) उत्तम (नपातम्) नाती रूप सन्तान को (आदधीत) मेरे साथ समागम से उत्पन्न करो ॥

भा०–जैसे सूर्य का उषा के साथ संयोग होने से दिन रात रूप दो सन्तान उत्पन्न होते हैं वैसे ही स्त्री पुरुषरूप रात्रि दिन का संयोग होने से तीसरा कोई प्रकार उत्पन्न हो यह सम्भव है परन्तु दिन राति का संयोग होना स्वभाव से ही विरुद्ध है। जैसे मूषिकमार्जार का सनातन विरोध होने से कभी मेल होना सम्भव नहीं वैसे दिन राति का भी मेल नहीं हो सकता इस से वे कदापि संयुक्त नहीं होते। मनुष्यों के सम्बन्ध में ध्वनितार्थ यह है कि किसी तपस्वी तेजस्वी युवा ब्रह्मचारी पुरुष से समागम के लिये कोई निकृष्ट स्त्री यदि याचना करे तो भी ब्रह्मचारी को उस के साथ समागम वा मेल सर्वथा त्याज्य ही है। निकृष्ट तमोगुणी प्राणियों का यह स्वाभाविक कर्त्तव्य है कि सात्विक धर्मात्माओं की इच्छा न होने पर भी उन के साथ स्वयमेव समागम वा सहाचरण करने को सब उपायो से प्रयत्न करते लोभ देते और छल प्रपञ्च रचते हैं परन्तु धर्मात्मा पुरुष उनके वश में न आवे यह मन्त्र का अभिप्राय है। मनु जी ने भी कहा है कि "वेश्यादि धर्मभ्रष्ट व्यभिचारिणी नीच स्त्री का थूक चाटने उस का श्वास अपने मुख में लेने तथा वैसी स्त्री में उत्पन्न हुए पुरुष के लिये धर्मशास्त्रों में कोई प्रायश्चित्त शुद्ध होने का नहीं है" ॥ १ ॥

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति। महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्त्तार उर्विया परिख्यन् ॥ २ ॥

न। ते सखा। सख्यम्। वष्टि। एतत्। सलक्ष्मा। यत्।

विषुरूपा । भवाति । महः । पुत्रासः । असुरस्य । वीराः । दिवः । धर्त्तारः । उर्विया । परिख्यन् ॥ २ ॥

अ०–प्रथममन्त्रोक्तं रात्रेः कथनं निशाम्य रात्रेः पृथक्स्थितिशीलमहोऽवदत् । हे रात्रि (ते) तव (सखा) त्वयोक्तप्रकारेण सखिभूतोऽप्ययं त्वया सार्द्धम् (एतत्) संयोगजन्यम् । (सख्यम्) विशिष्टं सखिभावम् (न, वष्टि) न कामयते स्वाभाविकं च समानख्यातिरूपं सखित्वमस्तु न तेन किमपि दूषणं मयि जायते (यत्) यतो भवति (सलक्ष्मा) सलाञ्छना कलङ्करूपेण तमसा युक्ता (विषुरूपा) मत्समानरूपाऽर्थान्मां शुद्धमपि स्वसदृशं कलङ्किनं कर्त्तुं यतमाना (भवाति) भवति [लेट्प्रयोगः] (दिवः) क्रीडाया मदस्य वा (धर्त्तारः) स्वीकर्त्तारः (महः,असुरस्य) असुषु परोपकारविहीनेषु प्राणपोषणव्यापारेषु स्वार्थसाधनप्रधानेष्वेव कार्येषु रमतइत्यसुरस्तस्य महो महतः सञ्चिताधिकासुरीसम्पत्कस्य (वीराः) स्वेषां साहसिककर्मसु सद्यःप्रवृत्तिशीलाः (पुत्रासः) पुत्रा आसुरा एव जनाः (उर्विया) उरुणा बहुना प्रकारेण स्वतो निकृष्टयापि स्वैरिण्यादिकया रमण्या रन्तव्यमिति (परिख्यन्) परितः ख्यान्तिः कथयन्ति नतु दैवा जना इति यावत् ॥

भा०—ये तमःप्रधानैः पतितैर्धर्मभ्रष्टैरासुरजनैस्तादृशीभिः स्त्रीभिर्वा सहाचरन्ति तेऽपि तामसाः पतिता धर्महीना आसुरा एव भवन्ति । मनुनाप्युक्तम्-संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्निति तस्मान्निकृष्टैरभ्यर्थ्यमानोऽपि दैवप्रकृतिर्जनः स्वधर्मं परिपालयन्न कदापि तैः सहाचरेदिति ॥ २ ॥

भावार्थः—प्रथम मन्त्र में कहे रात्रि के कथन को सुन कर अन्धकार से पृथक् रहने का स्वभाव वाला दिन बोला कि—हे रात्रि ! (यत्) जिस कारण तू (सलक्ष्मा) कलङ्करूप अन्धकार वा कालेपन से युक्त होने पर भी (विषुरूपा) मेरे समानरूप वाली अर्थात् मुझ शुद्ध निष्कलङ्क को भी अपने तुल्य कलङ्कित करने को तत्पर (भवाति) होती है [अर्थात् जैसे अच्छे के संग से बुरे में कुछ गुण आते हैं वैसे ही बुरे के संग से अच्छे में कुछ दोष भी आजाते हैं इस कारण दोनों एक से विषुरूप नाम समानरूप कहे वा माने जाते हैं। इस को बुरा तो अपने सुधार के लिये चाहता है पर अच्छा ऐसी चाहना न करे और शोचता रहे कि कलङ्कित के साथ विशेष मेल करने से मैं भी कलङ्कित हो जाऊंगा] इस कारण (ते, सखा) तेरी कही रीति से समानख्याति होने पर भी यह तेरा सखा [मैं] तेरे साथ (एतत्) एकत्र होजाने रूप (सख्यम्) विशेष मित्रभाव को (न, वष्टि) नहीं चाहता किन्तु (दिवः, धर्त्तारः) व्यभिचार विषय भोग तथा मादक वस्तु सेवन में तत्पर (महः) आसुरी सम्पत् का अधिक संचय करने वाले (असुरस्य) स्वार्थसाधन ही जिन में प्रधान है ऐसे परोपकार रहित प्राणपोषण कामों में ही रमने वाले असुरजन के (वीराः) धर्माधर्म का विचार छोड़ अपने साहसिक कामों में शीघ्र २ प्रवृत्ति स्वभाव वाले (पुत्रासः) पुत्र अर्थात् आसुर ही लोग अपने से निकृष्ट व्यभिचारिणी वा वेश्यादि से रमण करना चाहिये ऐसा (उर्विया) बहुत प्रकार से (परिख्यन्) कहते हैं किन्तु दैव लोग ऐसा नहीं कहते ॥

भा०—जो लोग तमोगुण प्रधान पतित धर्मभ्रष्ट असुरप्रकृति पुरुषों वा वैसी स्त्रियों के साथ अधिक मेल वा व्यवहार करते हैं वे भी तमोगुणी पतित धर्महीन तथा आसुर ही हो जाते हैं। मनु जी ने भी कहा है कि—"पतितों के साथ आचरण करने से अच्छा भी एक वर्ष में पतित हो जाता है। इसलिये निकृष्टों से प्रार्थित भी दैवप्रकृति पुरुष अपने धर्म की रक्षा करता हुआ कदापि नीचों के साथ आचरण न करे ॥ २ ॥

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य। नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१माविविश्याः ॥ ३ ॥

उशन्ति । घ । ते । अमृतासः । एतत् । एकस्य । चित् । त्यजसम् । मर्त्यस्य । नि । ते । मनः । मनसि । धायि । अस्मे । जन्युः । पतिः । तन्वम् । आविविश्याः ॥ ३ ॥

भ०—रात्रिराह-ये (अमृतासः) जीवन्मुक्ता विदेहमुक्ता वा पुरुषा भवन्ति (ते,घ) तएव [ऋचितुनुघेति दीर्घः] (एकस्य, मर्त्यस्य,चित्) केवलस्य मनुष्यजातीयस्यैव [नान्यस्य दंशमशकादेः किञ्च दंशादिसङ्गस्तु विरक्तैरप्यवार्यएवास्ति] (एतत्) त्वत्सदृशम् (त्यजसम्) त्यागम् (उशन्ति) कामयन्ते नत्वन्ये संसारिणइति। अन्ये तु प्राप्यमाणां मादृशीं स्वीकुर्वन्त्येव तस्मात् (ते) तव (मनः) पुंस्त्वम् (अस्मे) अस्माकम् (मनसि) स्त्रीत्वे (नि, धायि) निहितमवस्थितमस्तु त्वम् (जन्युः) प्रजननसमर्थः (पतिः) पतिर्भूत्वा मम (तन्वम्) स्वरूपं शरीरं वा (आविविश्याः) प्राप्तो भव॥

भा०—मुक्ति मार्गे गच्छन्तएव निकृष्टसंगाद्विरक्ता भवन्तीति कथनमपि प्रलोभनपरम् । यथा विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ पूर्वमितरेतरं मनो मनसि धारयतस्तदनन्तरं शरीरेणापि समागच्छेते तथैवात्र तमोरूपरात्रिस्त्रियाः प्रकाशरूपदिवसपुरुषेण समागमप्रार्थनं बोध्यम् । जन्युः पतिरिति कथनेन सामान्यतया पुरुषईश्वरोऽपि प्रकृतिरूपां स्त्रियं पालयति तस्यां च सर्वमिदं जगज्जनयति त्वयापि तथा कार्यमिति सूचितम् । प्राप्तुं दुर्लभस्य महत एव प्रार्थनं सर्वत्र दृश्यते नतु साधारणस्य, यथा निर्धनो धनितो धनं प्रार्थयति नतु स्वतुल्याद्न्नहीनादिति तेन सिद्धं निकृष्टएवोत्कृष्टात्स्वकार्यसाधनमिच्छतीति ॥ ३ ॥

भाषार्थः—यमी नामक रात्रि कहती है कि-जो (अमृतासः) जीवन्मुक्त वा विदेह मुक्त पुरुष होते हैं (ते, घ) वे ही (एकस्य, मर्त्यस्य, चित्) केवल एक

मनुष्य जाति का ही [किन्तु अन्य दंशमशकादि का नहीं डांश मक्खी आदि पास न आवें ऐसा विरक्त भी नहीं कर सकते और न उन की दंशादि से विशेष हानि होती है] (एतत, त्यजनम्) इस तुम्हारे तुल्य त्याग को (उशन्ति) चाहते हैं किन्तु ससारी लोग स्त्री से विरक्त नहीं होते संसारी लोग तो मेरे तुल्य प्राप्त होने वालों को भी स्वीकार ही करते हैं इस कारण (ते) तेरी (मनः) पुंस्त्वशक्ति (अस्मे) मेरी (मनसि) स्त्रीशक्ति में (नि, धायि) अवस्थित हो तथा तू (जन्युः) उत्पन्न करने में समर्थ (पतिः) मेरा पति बन कर मेरे (तन्वम्) स्वरूप वा शरीर को (आविविश्याः) प्राप्त हो ॥

भा०—मुक्ति मार्ग में चलते हुए ही निकृष्ट संग से बचते हैं यह कहना भी लुभाने के अभिप्राय से है। जैसे विवाहित स्त्री पुरुष पहिले परस्पर मन में मन को धारण करते अर्थात् मन से एक दूसरे को मिलना चाहते हैं तदनन्तर शरीर से भी दोनों का समागम होता वैसे ही यहां अन्धकार स्वरूप रात्रि स्त्री की प्रकाशरूप दिवस पुरुष के साथ समागम की प्रार्थना जानो। इस मन्त्र में जन्यु और पतिशब्दों के कहने से यह जताया है कि जैसे सामान्य कर पुरुषरूप ईश्वर स्त्री रूप प्रकृति का पालन करता और उस प्रकृति स्त्री के साथ संयोग करके इस सब जगत् को रचता है वैसे तुम भी मुझ से मेल करो। जिस वस्तु की प्राप्ति दुर्लभ हो उस के लिये श्रेष्ठ वा अपने से बड़े की ही प्रार्थना करना सर्वत्र दीखती है किन्तु साधारण की प्रार्थना नहीं की जाती जैसे निर्धन पुरुष धनी से ही धन की प्रार्थना करता है अपने तुल्य निर्धनी से नहीं इस से सिद्ध हुआ कि नीच ही उत्तम से अपने कार्य को सिद्ध करना चाहता है। यहां भी तमोरूप नीच यमी रात्रि की सत्त्वरूप उत्तम यम से प्रार्थना है ॥३॥

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम। गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४ ॥

न। यत्। पुरा। चकृम। कत्। ह। नूनम्। ऋता। वदन्तः। अनृतम्। रपेम। गन्धर्वः। अप्सु। अप्या। च। योषा। सा। नः। नाभिः। परमम्। जामि। तत्। नौ ॥४॥

अ०-यमो दिवस आह-यद्यपि (गन्धर्वः) स्त्र्यपेक्षयाऽधिकं वाग्व्यापारमाग्नेयभोक्तृशक्तिमादधानः पुरुषः [अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदिति ब्राह्मणम्। अनेन वेदसिद्धान्तेन वाग्व्यापाराधिक्यं भोक्तृशक्तिप्राधान्यसूचकं पुंस्त्वलक्षणमिति] (अप्सु) अप्तत्त्वप्रधानायां स्त्रीरूपप्रकृतावेव सर्वदा तिष्ठति (अप्या, च, योषा) भोग्यप्रधाना प्रकृतिरूपा योषाऽपि गन्धर्वपुरुषाश्रयेणैव सदा स्वकार्यं साधयति (सा नो नाभिः) सैव स्त्रीरूपा भोग्यशक्तिर्नोऽस्माकं नाभिः स्थितिहेतुः स्त्रीशक्तिरूपमातृतएवोत्पन्ना वयं तस्याएवाधिकांशेन निर्मितोऽस्माकं देहो जीवति (तत्, नौ, परमम्, जामि) तत्प्रकृतिप्रधानं मातृस्वरूपं नावावयोः परममुत्कृष्टं जामि बन्धुभूतं यतस्तयैव पालिताः सर्वे जीवन्ति सर्वमेतत्सत्यमेव मन्ये तथापि (कत् ,ह) कदापि (पुरा) पूर्वकालेऽपि (यत्) देवासुरयोः प्रकाशतमसोर्धर्माधर्मयोर्वा सम्मेलनम् (न) नासीत्स्वभावविरुद्धत्वात् । तस्माद्वयमपि तन्न (चकृम) कुर्याम (नूनम्) निश्चयेन (ऋता,वदन्तः) सत्यवचांसि वदन्तो वयं किम् (अनृतं, रपेम) असत्यं वदेम ? न कदाप्यनृतं वक्तुमुत्सहामहे ॥

भा०-अत्र दिवसे पुंस्त्वसामान्यं रात्रौ च स्त्रीत्वसामान्यमारोप्य मन्त्रार्थवर्णनं बोध्यम्। यद्यपि कारणे कार्ये च जगति प्रकृतिपुरुषयोः स्त्रीपुंसयोर्वा संयोगः सनातनएव । तथापि यथाऽयं प्राकृतो नियमस्तथैव तमःप्रकाशादीनां विरोधोऽसहाचारोऽपि प्राकृतनियमानुगएव तस्मान्नानयोः सम्मेलनसम्भवः। तेन सिद्धं प्रकृतिविरुद्धं न केनापि कदापि किमप्याचरणीयम्। कामक्रोधादिवशेन लोभेन वा ये प्रकृतिविरुद्धमभक्ष्यं भक्षयन्ति त्याज्यं गृह्णन्ति-अगम्यां वा गच्छन्ति ते दुःखमेवाप्नुवन्ति। अत्र च निरन्तरं गच्छतोरहोरात्रयोरनादिकालादसम्मेलनमेव दृष्टान्तः परमेश्वरेण प्रदर्शितः। तस्मात्तुल्यगुणकर्मस्वभावानां ब्राह्मणादीनां

ब्राह्मण्यादिसवर्णाभिरेव विवाहादिसम्बन्धः कर्त्तव्यो नतु विरुद्धानामित्याशयः ॥४॥

भाषार्थः-यम नामक दिन कहता है कि-यद्यपि (गन्धर्वः) स्त्री की अपेक्षा वाणी के व्यापाररूप आग्नेय भोक्तृशक्ति का अधिक धारण करने वाला [ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि आग्नेय शक्ति वाक् इन्द्रिय का रूप धारण कर पुरुष के मुख में प्रविष्ट हुई । इसी लिये व्याख्यानादि के समय वाणी से अधिक काम लेने पर अग्नि की उत्तेजना से मुख सूखता वा शीघ्र प्यास लगती है अर्थात् वाक् इन्द्रिय का मूल कारण अग्नि है इसी लिये वाणी के अध्ययनाध्यापनोपदेशादि कर्म में अधिक तत्पर होने से ब्राह्मण आग्नेय कहाता है "आग्नेयो वै ब्राह्मणः" यह भी ब्राह्मणग्रन्थों का लेख है । इस वेद के सिद्धान्त से भोक्तृशक्ति की प्रधानता की सूचक वाणी के व्यापार की अधिकता पुरुष का लक्षण वा चिह्न है अर्थात् पुरुष की अपेक्षा स्त्रीजाति में वाक्शक्ति कम होती है क्योंकि स्त्री-अप्तत्त्वप्रधान प्रकृति, और पुरुष अग्नितत्त्वप्रधान गन्धर्व है । इसी लिये गोनामक वाणी के व्यवहार को विशेष धारण करने वाला सामान्य पुरुष गन्धर्व कहाता है] पुरुष (अस्तु) जलतत्त्वप्रधान प्रकृति नामक स्त्री के आश्रय ही सर्वदा रहता है (अप्या,च,योषा) और भोग्यशक्तिप्रधान प्रकृति स्त्री भी गन्धर्व नामक पुरुष के आश्रय से अपने कार्यों को सिद्ध करती है (सा,नो नाभिः) वही स्त्रीरूप भोग्यशक्ति हम प्राणिमात्र की स्थिति का हेतु है क्योंकि स्त्रीरूप माता से ही हम सब उत्पन्न हुए हैं उसी के शरीर से गर्भ में वा पीछे. दुग्धद्वारा अधिकांश हमारा शरीर बना है उसी के अधिकांश से हम जीवित हैं । प्रत्येक शरीर में रुधिरादि कोमल अंश माता का है उस के न रहने पर कोई भी जीवित नहीं रह सकता इसलिये (तत्,नौ,परमं जामि) वह मातृ शरीर हम दोनों स्त्रीपुरुष जातियों का सर्वोत्तम बन्धु वा हितैषी है उस से अधिक कोई भी किसी का हितकारी नहीं है उसी ने हमारा सब का पालन किया है यह सब मैं भी सत्य ही मानता हूं तथापि (कत्,ह) कभी (पुरा) पूर्वकाल में भी (यत्) जो अगम्यागमन, देवासुर, प्रकाशान्धकार वा धर्माधर्मादि विरुद्धों का मेल (न) नहीं हुआ क्योंकि उन का स्वाभाविक विरोध है इस से हम भी उस काम को नहीं (चकृम) करेंगे हम (नूनम्) निश्चय कर (ऋता,वदन्तः) सत्यवचन कहते हुए क्या (अनृतम्, रपेम) मिथ्या कहेंगे ? अर्थात् हम कदापि मिथ्या न कहेंगे ॥

भा०-यहां दिवस में पुंस्त्व सामान्य और रात्रि में स्त्रीत्व सामान्य का आरोपण करके मन्त्रार्थ का वर्णन जानो । यद्यपि कारण और कार्य दोनों प्रकार के जगत् में प्रकृतिपुरुष वा स्त्रीपुरुष का संयोग अनादि काल से ही सिद्ध है तथापि जैसे यह सामान्य दशा का प्राकृत नियम है वैसे ही विशेष दशा में प्र-

काशान्धकारादि विरुद्धों का सम्मेलन कदापि न होना यह भी प्राकृत ही नियम है। इसी लिये प्राकृत नियमों से विरुद्ध कार्य करने में ही मनुष्य को दुःख होता है क्योंकि प्राकृत नियम से विरुद्धाचरण का ही नाम अधर्म है और धर्म सदा उस के अनुकूल रहता है इस कारण इन दोनों का कदापि मेल नहीं हो सकता। इस से सिद्ध हुआ कि प्रकृति विरुद्ध किसी को कुछ भी कहीं नहीं करना चाहिये। जो लोग काम क्रोध लोभादि में फस कर प्रकृतिविरुद्ध अभक्ष्य भक्षण वा अगम्यागमनादि करते हैं वे दुःख ही पाते हैं। इस विषय में निरन्तर एक दूसरे के पीछे चलते हुए दिन रातों का अनादि काल से आज तक मेल न होना रूप दृष्टान्त परमेश्वर ने दिखाया है इसलिये तुल्य गुणकर्मस्वभाव वाले ब्राह्मणादि का ब्राह्मणी आदि सवर्ण स्त्री के साथ विवाहादि सम्बन्ध करना चाहिये विरुद्धों का नहीं यह तात्पर्य्य है ॥ ४ ॥

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥५॥

गर्भे। नु। नौ। जनिता। दम्पती। करिति कः। देवः। त्वष्टा। सविता। विश्वरूपः। नकिः। अस्य। प्र। मिनन्ति। व्रतानि। वेद। नौ। अस्य। पृथिवी। उत। द्यौः ॥५॥

अ०-रात्रिराह (त्वष्टा) सर्वस्य जगतो रूपाणां प्रकाशकः (विश्वरूपः) सर्ववस्तुषु तत्तद्रूपेणैव स्वतेजसा व्याप्तः (सविता) सर्वेषां कर्मसु प्रेरकः (जनिता) सर्वेषामोषध्यादीनां वर्षकर्मणोत्पादकः सूर्यः पिता (नु) निश्चयेन (नौ) आवाम् (गर्भे) उषोरूपाया मातुर्गर्भाशये (दम्पती) स्त्रीपुरुषौ (कः) कृतवान्। (अस्य) उत्पादकस्य पितुः (व्रतानि) नियमान् (नकिः) आज्ञाभङ्गभयान्नहि केऽपि (प्रमिनन्ति) हिंसन्ति। (अस्य) सवितुः सन्तानभूतयोः (नौ) आवयोरुषःकालेऽन्तरिक्षे जायमानं दम्पतित्वम् (पृथिवी, उत, द्यौः) (वेद) जानाति। अर्थादुपरिष्टाद्द्युलो-

कस्था अधस्ताच्च पृथिवीस्थाः प्राणिनः पश्यन्त्येव प्रकाशतमसी सम्मिलिते सम्प्रति स्त इति ॥

ध्वनितार्थावगमायेत्थमपि सम्भवति—काचिदाह—त्वष्टा प्रकाशस्वरूपो विश्वरूपः सर्ववस्तुषु तत्तद्रूपेण व्याप्तः सविता सर्वान्तर्यामितया प्रेरको जनिता सर्वोत्पादकः परमेश्वरो नु निश्चयेन नावावां गर्भे मातुर्गर्भाशये दम्पती पुरुषोऽस्यां प्रविश्य जायतेऽइति जायात्वयुक्तां मां तां स्वीकृत्य पालयेदिति पतिभावापन्नं त्वां च कः कृतवान्। अस्य परमात्मनो नैसर्गिकनियमान्न केऽपि विघातयन्ति। अपि तु सर्वे पालयन्त्येव किं बहुना द्यावापृथिव्यावपि तस्य नियमान् जानीतोऽतएव द्यौः सूर्यउपरिष्टात्पुरुषरूपेण वर्षयति तेन स्त्रीपृथिव्यामोषध्याद्यपत्यानि जायन्ते ॥

भा०—यथा रात्रिस्त्री प्रकाशपुरुषं प्रतिवदति। प्रातःकालारम्भे यथोत्पादकेन सूर्यपित्रा गर्भावस्थायां दम्पतीइवावां संयोजितौ तस्यायमाशयोऽनयोरग्रेऽपि सदैव दम्पतिवत्समागमः स्यादिति। तथैव कनिष्ठा स्त्री स्वतउत्कृष्टपुरुषमभिमुखीकृत्य वदति—गर्भाशये स्रष्ट्राऽहं स्त्रीचिह्ना त्वं च पुरुषलिङ्गो निर्मितस्तस्यायमाशयो यत्स्त्रिया पुरुष आश्रेयः पुरुषेण च स्त्री समागम्या। तथा सत्येव स्त्रीत्वपुंस्त्वयोर्निर्माणंसार्थकं भवति। यदि विरक्तौ स्त्रीपुरुषौ स्यातां तर्हि स्रष्टुर्नियमविघातदोषभागिनौ भवेतामेवेति ॥ ५ ॥

भाषार्थः—फिर रात्रि स्त्री कहती है कि—(त्वष्टा) सब जगत् के रूपों के प्रकाशक (विश्वरूपः) सब वस्तुओं में उस २ के रूप मे अपने तेज के साथ व्याप्त (सविता) सब प्राणियों को प्रकाश पहुंचा कर कर्मों में प्रेरणा करने वाले (जनिता) वर्षा करके सब ओषध्यादि के उत्पादक सूर्य पिता ने (नु) निश्चय कर (नौ) हम दोनों को (गर्भे) उषारूप माता के गर्भाशय में (दम्पती) स्त्री पुरुष के तुल्य मिले हुए (कः) उत्पन्न किया है। (अस्य) इस पिता के (व्रतानि) नियमों को आज्ञाभङ्ग रूप अधर्म के भय से (नकिः) कोई भी नहीं (प्रमिनन्ति) तोड़ते (अस्य) इस सूर्य पिता के सन्तान रूप (नौ) हम दोनों के उषःकाल के समय अन्तरिक्ष में हुए स्त्री पुरुषों के समागम को (पृथिवी, उत, द्यौः) पृथिवी

लोक और द्युलोक (वेद) जानते हैं अर्थात् ऊपर से द्युलोकस्थ और नीचे से पृथिवीस्थ प्राणी सन्ध्या समय में प्रकाश अन्धकार रूप दिन रात के मेल को देखते हैं वे हम दोनों के गर्भस्थ मेल के साक्षी हैं ॥

ध्वनित द्वितीय अर्थ समझने के लिये इस मन्त्र का अर्थ यह होगा कि—कोई सामान्य स्त्री किसी पुरुष से कहती है (त्वष्टा) प्रकाश स्वरूप (विश्वरूपः) सब वस्तुओं में उस २ रूप से व्याप्त (सविता) सर्वान्तर्यामी होने से प्रेरक (जनिता) सब जगत् के उत्पादक परमेश्वर ने (नु) निश्चय कर (नौ) हम दोनों को (गर्भे) माता के गर्भाशय में (दम्पती) जाया और पति [वीर्यरूप से पुरुष जिस में प्रवेश कर उत्पन्न हो वह जाया और उस को स्वीकार जो पालन करे वह पति अर्थात् स्त्री को उत्पत्ति का स्थान और पुरुष को उत्पादक] (कः) बनाया (अस्य, व्रतानि) इस परमात्मा के किये प्राकृत नियमों को (नकिः, प्रमिनन्ति) कोई भी नहीं तोड़ते वा तोड़ सकते हैं किन्तु ईश्वरीय नियमों पर सभी चलते हैं क्योंकि (पृथिवी, उत, द्यौः) पृथिवी लोक और द्युलोक भी ईश्वरीय नियमों को (वेद) जानते हैं इसी से द्युलोकस्थ सूर्य पुरुष रूप से वर्षा करता उस से स्त्री रूप पृथिवी में ओषध्यादि सन्तान उत्पन्न होते हैं ॥

भा०—जैसे रात्रिरूप स्त्री प्रकाशरूप दिवस पुरुष से कहती है कि प्रातःकाल के समय जैसे उत्पादक सूर्य पिता ने गर्भावस्था में स्त्री पुरुष के तुल्य हम दोनों को संयुक्त किया उस का आशय यह है कि इन दोनों का आगे भी स्त्री पुरुष के तुल्य सदा ही मेल होता रहे । वैसे नीच स्त्री अपने से उत्तम पुरुष से कहती है कि सृष्टिकर्त्ता ने गर्भ में मुझ को स्त्री चिह्नयुक्त और तुम को पुरुष चिह्न वाला बनाया उस का आशय यही है कि स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का आश्रय करे ऐसा होने पर ही स्त्रीपन और पुरुषपन का बनाना सार्थक होता है यदि स्त्री पुरुष दोनों विरक्त हों तो सृष्टिकर्त्ता के नियम तोड़ने के दोषभागी अवश्य होंगे ॥ ५ ॥

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् । बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ६ ॥

कः । अस्य । वेद । प्रथमस्य । अह्नः । कः । ईम् । ददर्श । कः । इह । प्र । वोचत् । बृहत् । मित्रस्य । वरुणस्य । धाम । कत् । उ । ब्रवः । आहनः । वीच्या । नॄन् ॥ ६ ॥

अ०-यमी पुनराह-हे(वीच्या) प्रकाशरूपतरङ्गपातेन (नॄन्) मनुष्यान् (आहनः) श्रमेणाहन्तरहः ! (अस्याह्नः, प्रथमस्य, को, वेद) अस्य वर्त्तमानब्राह्मकल्पस्यारम्भे यद् वृत्तं तत्को वेद जानाति। यद्वाऽस्येश्वरस्य सृष्टौ प्रथमस्येतः पूर्वकल्पस्य वृत्तं को वेद (क ईं ददर्श) क इदं दृष्टवान् (क, इह, प्रवोचत्) इहास्मिन् विषये को दृष्टमुपदिशति (मित्रस्य, वरुणस्य, बृहद्धाम, कदु ब्रवः) तेजस्विनः शान्तस्वरूपस्य चेश्वरस्य सृष्टिरूपं ब्रह्माण्डं बृहद्धाम स्थानमस्ति । अनादिकालीनाऽनन्ता सृष्टिरस्ति तत्र कोहि वक्तुं शक्नोति कदा क्व किं भवतीति ॥

भा०-पुरापि यन्नासीत्तत्कथं कुर्यामेत्यस्य प्रतिवचनमेतत् । कोहि जानाति पुरा कल्पारम्भे कल्पान्तरे वा किं किमासीत् । विरुद्धगुणकर्मस्वभावयोर्देवासुरयोः प्रकाशतमसोरहोरात्रयोर्धर्माधर्मयोः पापिपुण्यात्मनोर्वा पुरापि सम्बन्धो नासीदिति को वक्तुं क्षमः । अनन्तायां सृष्टौ कदा क्व किं भवतीति सर्वज्ञेश्वरमन्तरेण न कोऽपि ज्ञातुमर्हति ॥ ६ ॥

भाषार्थः-यमी फिर बोली कि हे (वीच्या) प्रकाश रूप तरङ्ग पहुंचा कर (नॄन्) मनुष्यों को (आहनः) कर्म कराने का परिश्रम देने वाले दिन रूप यम ! (अस्य, प्रथमस्याह्नः, कः, वेद) इस वर्त्तमान ब्राह्म कल्प के आरम्भ में हुए वृत्तान्त को कौन जानता है ? अथवा इस ईश्वर की सृष्टि में इस से पूर्व कल्प के वृत्तान्त को कौन जानता है ? (क ईं ददर्श) किस ने देखा है कि ऐसा ही हुआ था (क इह, प्रवोचत्) इस विषय में प्रत्यक्ष देखा कौन उपदेश करता है ? (मित्रस्य, वरुणस्य) सब से अधिक तेजस्वी और शान्तस्वरूप ईश्वर का रचा ब्रह्माण्ड (बृहद्धाम) बड़ा भारी स्थान है अर्थात् अनादि काल से अनन्त सृष्टि है उस में (कत्, उ, ब्रवः) कौन कह सकता है कि कब कहां क्या होता है ?॥

भा०-पूर्व काल में भी जो काम नहीं हुआ उस को कैसे करें इस यम के कथन का यह उत्तर है कि-कौन जानता है कि पहिले कल्पारम्भ वा कल्पान्तर में क्या २ हुआ । विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाले देव असुर, प्रकाश अन्धकार, दिन रात्रि, धर्म अधर्म, वा पापात्मा पुण्यात्माओं आदि का पहिले भी कभी सम्बन्ध

नहीं हुआ ऐसा कौन कह सकता है। ईश्वर की अनन्त सृष्टि में कब २ कहां २ क्या २ होता है यह सर्वज्ञ ईश्वर के विना अन्य कोई भी नहीं जान सकता ॥६॥

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय। जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥७॥

यमस्य। मा। यम्यम्। कामः। आगन्। समाने। योनौ। सहशेय्याय। जायाऽइव। पत्ये। तन्वम्। रिरिच्याम्। वि। चित्। वृहेव। रथ्याऽइव। चक्रा ॥ ७ ॥

अ०—अतःकारणात् (समाने योनौ,सह,शेय्याय) एकस्मिन् योनौ स्थाने सहशेय्याय शयनार्थं [रात्रिः स्वप्नरूपैवास्ति तमोरूपत्वाद्रात्रावेव सर्वे स्वपन्ति दिवसे च जाग्रति दिनमपि तमोभूतं मया सह सुप्तं स्यादितीच्छतीव] (यमस्य) दिवसस्य (कामः) कान्तिः (मा) माम् (यम्यम्) यमीनामिकां रात्रिम् (आगन्) आगच्छेत् (जायेव पत्ये) यथा जाया पत्यर्थं तन्वं स्वदेहं वसनापगमेन प्रकाशयति (तन्वं रिरिच्याम्) तथाहमपि प्रकाशसम्बन्धात्तमोऽपहाय स्वं रूपं प्रकाशयेयम्। (रथ्येव चक्रा) यथा रथ्यायां रथस्याङ्के परस्परसाहाय्येन रथं तत्स्थं च वहतस्तथा (चित्) कस्मिन्नपि कार्ये (विवृहेव) विशिष्टमुद्योगं कुर्यात ॥

भा०—यथोत्कृष्टेन सम्बन्धयाचनं स्वाभाविकं तथैव तमोरूपा रात्रिर्दिवसप्रकाशेन सम्बन्धं याचते। ध्वनितार्थे च हीनकुलगोत्रधनैश्वर्या निकृष्टवर्णा वा सामान्या कापि स्वमनोगतमुत्कृष्टकुलगोत्रधनैश्वर्यपुरुषसम्बन्धजन्यं सुखं संकल्पयतीति तात्पर्यम्। अत्र जायेव पत्यइति दृष्टान्तेन प्रत्याय्यते यम्या.जायात्वं यमस्य च पतित्वं वस्तुतो नास्ति तथासत्येव दृष्टान्तसम्भवात्। तेन रात्रिन्दि-

वयोः सदा पृथक्स्थितिरूपप्राकृतनियमदृष्टान्तप्रदर्शनेन परमात्मना सर्वस्य विरुद्धसंयोगप्रतिषेधः प्रदर्शितइत्येव सर्वत्राशयः॥७॥

भाषार्थः—इस कारण (समाने, योनौ, सह, शेय्याय) एक स्थान में साथ सोने के लिये [अर्थात् तमोगुणप्रधान होने से रात्रि स्वप्नरूप ही है इस से रात्रि में प्रायः सभी सोते और सत्व प्रधान दिन में सभी जागते हैं दिन भी तमो रूप हुआ मेरे साथ सोवे यह रात्रि जानो चाहती है] (यमस्य) दिन की (कामः) कान्ति-शोभा (माम्) मुझ (यम्यम्) यमी नामक रात्रि को (आगन्) प्राप्त हो (जायेव, पत्ये) जैसे स्त्री अपने पति के लिये वस्त्र हटा कर अपने शरीर को प्रकाशित कर देती है (तन्वं, रिरिच्याम्) वैसे मैं भी तुम्हारे प्रकाश को पाकर अपने अन्धकार स्वरूप वस्त्रों को हटा के अपने स्वरूप को प्रकाशित करूं [जैसे स्त्री पुरुषसम्बन्ध के विना मलिन रहती शृङ्गारादि नहीं करती वैसे रात्रि भी जानो सूचित करती है कि किसी पुरुष का मेरे साथ सम्बन्ध नहीं इसी से मैं अन्धकारस्वरूप मलिन हूं] (रथ्येव, चक्रा) जैसे मार्ग में रथ के दो पहिये मिल कर एक दूसरे की सहायता से रथ को और उस में बैठने वाले वा धरे हुए वस्तु को ले चलते हैं अर्थात् एक पहिये से रथ नहीं चलता वैसे (चित्) किसी कार्य में (विवृहेव) हम दोनों भी मिल कर उद्योग करें ॥

भा०—जैसे अपने से बड़े के साथ मेल की चाहना सर्वत्र स्वाभाविक है वैसे ही तमोरूप रात्रि प्रकाशरूप दिवस से सम्बन्ध वा मेल चाहती है। और ध्वनितार्थ में कुल, गोत्र, धन, और ऐश्वर्य से हीन कोई नीच वर्ण की स्त्री अपने मन में ऊंचे कुल गोत्र धन और ऐश्वर्य वाले पुरुष के सम्बन्ध से होने वाले सुख की चाहना करती है यह आशय है। इस मन्त्र में (जायेव, पत्ये) इस दृष्टान्त के कहने से प्रतीत कराया है कि यमी में जायापन और यम में पतिपन वस्तुतः नहीं है। क्योंकि यम यमी दोनों कालावयव जड़ वस्तु हैं तभी दृष्टान्त घट सकता है यदि यमी में जायात्व और यम में पुंस्त्व होता तो "जैसे जाया पति के लिये अपना स्वरूप प्रकाशित करती वैसे मैं अपने स्वरूप को प्रकाशित करूं" यह कहना व्यर्थ है। इस से सिद्ध हुआ कि रात्रि और दिन का सदा पृथक् स्थिति रूप प्राकृत नियम सम्बन्धी दृष्टान्त से परमात्मा ने सब जड़ चेतन स्त्री पुरुषादि के विरुद्ध संयोग का निषेध दिखाया है। यही आशय सामान्य कर सब सूक्त का है ॥ ७ ॥

न ति॒ष्ठ॒न्ति॒ न नि॒मि॑ष॒न्त्ये॒ते दे॒वानां॑ स्प॒शः॑ इ॒ह ये चर॑न्ति। अ॒न्येन॒ मदा॑हनो याहि॒ तूयं॒ तेन॒ वि वृ॑ह॒ रथ्ये॑व च॒क्रा ॥ ८ ॥

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ४ | ज्येष्ठ संवत् १९४८ | अङ्क १०

यत्रं ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त १० का विचार

न । तिष्ठन्ति । न । नि । मिषन्ति । एते । देवानांम् । स्पशंः । इह । ये । चरन्ति । अन्येनं । मत् । आहनः । याहि । तूयंम् । तेनं । वि । वृह । रथ्येव । चक्रा ॥ ८ ॥

अ०—यमो दिवस आह—हे (आहनः) स्वप्रदेशे मम प्रकाशस्याहन्त्रि ! यमि ! (इह) शरीरे चराचरे जगति च (ये) (देवानाम्) अग्न्यादीनाम् (स्पशः) सम्बन्धिनः सात्त्विकराजसतामसा गुणाः (चरन्ति) विचरन्ति (एते) (न, तिष्ठन्ति) न क्षणमपि स्थितिं लभन्ते (न, निमिषन्ति) न निमेषमात्रमपि विरुद्धाचरणं सहन्ते सद्यएव फलं प्रयच्छन्ति। यथा मादकं वस्तुभक्षितं सद्यएव मोहयति। तस्मात्त्वम् (मत्) मत्तः (अन्येन) केनापि त्वत्सदृशेन (तूयम्) क्षिप्रम् (याहि) सम्बन्धं प्राप्नुहि (तेन) तेनैव (रथ्येव, चक्रा) यथा रथ्यायां चक्रे सह गच्छतस्तथा कार्येषु सहयोगं विधेहि ॥

भा०—को अस्य वेदप्रथमस्येत्यस्य प्रतिवचनमिदमुच्यते—परोक्षं प्रत्यक्षान्न कदापि विरुध्यते । यथा विषभक्षणेन संप्रति

म्रियन्ते तथैव पुरापि म्रियन्तेऽस्मेति नात्र सन्देहः। तथा सति विरुद्धगुणकर्मस्वभावानां शाश्वतिकविरोधानामहोरात्रदेवासुरादीनां सम्बन्धः सर्वदैव दुःखहेतुरिति निश्चितमेव तत्र को वेदेत्यादिकथनं न सङ्गच्छते यतो दीर्घदर्शिनो ज्ञानचक्षुषा परमात्मकृतनियमान्सदैव पश्यन्ति। यदि पुरापि केनचिद्विरुद्धमाचरितं तेनावश्यमेव तत्फलमाप्तमग्रे च यः करिष्यति स प्राप्स्यति तेन कार्यत्वेन पुरापि विरुद्धसंयोगो नासीदिति पूर्वकथनाशयः। तस्मान्नाहं त्वया सम्बन्धं कामये ॥ ८ ॥

भावार्थः—फिर यम दिवस बोला कि—हे (आहनः) अपने प्रदेश वा समय में मेरे प्रकाश को नष्ट करने वाली यमि! (इह) इस चराचर जगत् वा शरीर में (ये) जो (देवानाम्) अग्नि आदि देवताओं के सम्बन्धी (स्पशः) सात्विक राजस और तामस गुण (चरन्ति) चलायमान हो रहे हैं (एते) ये (न, तिष्ठन्ति) क्षण भर भी नहीं ठहरते (न, निमिषन्ति) और न निमेष मात्र भी विरुद्धाचरण सहते हैं किन्तु शीघ्र ही यथोचित फल देने वाले हो जाते हैं। जैसे मद्कारी वस्तु वा विष खाया हुआ शीघ्र ही मोहित वा मूर्छित करता है इस कारण तू (मत्) मुझ से (अन्येन) अन्य किसी अपने सदृश तमोगुणी के साथ (तूयम्) शीघ्र (याहि) सम्बन्ध को प्राप्त हो (तेन) और उसी के साथ (रथ्येव, चक्रा) रस्ता में दो पहियों के चलने के समान अपने कार्यों में सम्बन्ध वा मेल कर॥

भा०—"पहिले का हाल कौन जानता है" इस का उत्तर यह दिया है कि परोक्ष विषय प्रत्यक्ष से विरुद्ध कभी नहीं होता जैसे विषभक्षण से अब मरते हैं वैसे पूर्वकाल में भी अवश्य मरते थे इस में कुछ भी सन्देह नहीं। ऐसी दशा में सनातन विरोधी विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाले देव असुर वा दिन रात्रि आदि का मेल होना सभी समय में दुःख का हेतु है यह निश्चित ही है तब "कौन पूर्व का हाल जानता है" यह नहीं कह सकते क्योंकि दीर्घदर्शी लोग ज्ञानचक्षु से परमात्मा के नियत किये नियमों को सदा ही देखते हैं। यदि पहिले समय में भी किसी ने विरुद्धाचरण अगम्यागमनादि किया तो उसने अवश्य वैसा फल पाया और अब जो आगे करेगा वह वैसा फल पायेगा अर्थात् कर्त्तव्य मान कर पहिले भी कभी विरुद्धों का संयोग नहीं हुआ यह पूर्व कथन का अभिप्राय है इस से मैं तेरे साथ सम्बन्ध वा मेल करना नहीं चाहता॥ ८॥

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य च-

क्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् । दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि ॥९॥

रात्रिभिः । अस्मै । अहंभिः । दशस्येत् । सूर्यस्य । चक्षुः । मुहुः । उत् । मिमीयात् । दिवा । पृथिव्या । मिथुना । सबन्धू । यमीः । यमस्य । बिभृयात् । अजामि ॥ ९ ॥

अ० -पुनरपि यमएवाह-(यमीः) रात्रिः (यमस्य) दिवसस्य (अजामि) अजामित्वं दम्पत्योरिव मैत्र्यभावम् (बिभृयात्) धारयेदिति । अर्थाद्रात्रिदिवसावेकस्मिन्देशे काले च संयुक्तौ न भवेतामिति परमात्मकृतनियमेषु दृश्यते । एवं हि तस्येष्टिरनुमीयते (सूर्यस्य) कारणरूपसूर्यसकाशादुत्पन्ने (चक्षुः) चक्षुषीइवाहोरात्रौ संयुक्तौ न स्यातामपितु नासिकावत्सायंप्रातःकालव्यवधायकौ निकटवर्त्तिनौ स्याताम् (रात्रिभिः) साकम् (अस्मै) एनं दिवसम् (अहभिः) दिवसैः सार्द्धं रात्रिं च (दशस्येत्) संयोजयेत् (मुहुः) पुनरेतौ (उन्मिमीयात्) वियोजयेत् (दिवा, पृथिव्या) येनाहोरात्रौ (सबन्धू) समानबन्धनौ समानाधिकरणौ (मिथुना) संयुक्तौ स्यातां तत्तेन स्रष्ट्रा न कृतमिति ॥

भा० -अस्मिन् जगत्यन्येषु सृष्टिप्रक्रियानियमेष्वयमप्यनुसन्धेयः-यदेकस्मादुपादानात्पृथक्पृथगुत्पन्नं वस्तुद्वयं कार्यद्वयं वा कार्यदशायां न संयुज्यते। यथैकस्मात्सूर्यादुत्पन्नावहोरात्रौ सूर्यश्चानयोः पितृस्थानी । स्त्रीपुंस्त्वलिङ्गाविमाविति मत्वा सूर्यस्य कन्यापुत्राविवोच्येते । तौ चासंयुक्तौ-परस्परसापेक्षसम्बन्धिनौ जगदुपकारकौ सदैव समीपवर्त्तिनावितरइतरस्य पश्चात्प्रतिक्षणं धावति । तथापि नैव संयुज्येते । तथैवैकस्मात्पितुरुत्पन्नौ कन्यापुत्रौ सोदर्यौ भ्रातरौ कदापि विवाहसम्बन्धं न कुर्यातामिति ज्ञापकेन परमात्मन आज्ञाऽस्ति । इमामेव वेदाज्ञां पुरस्कृत्यान्ये-

ऽपि द्वीपान्तरवासिनो भगिनीं सोदर्येण भ्रात्रा साकं नोद्वाहय-न्ति। अयं च विवाहसम्बन्धस्य मनुष्येष्वेव नियमः पश्वादिषु तु यादृच्छिको मैथुनव्यापार इदमेव तेषु पशुत्वम्। मनुष्यैश्चायं व्यवहारनियमो यत्नेन पालनीयः ॥ ९ ॥

भावार्थः—फिर भी यम कहता है कि—(यमी) रात्रिरूप स्त्री (यमस्य) पुरुषरूप दिन को (अजामि, बिभृयात्) पति न करे अर्थात् दिनरूप पुरुष के साथ विवाह न करे अर्थात् दोनों दिन रात एक देश वा काल में इकट्ठे न हों ऐसा परमेश्वर कृत नियम प्रतीत होता है इसी से निश्चय है कि ऐसा उस को अभीष्ट है। क्योंकि (सूर्यस्य) कारण रूप सूर्य से उत्पन्न हुए (चक्षुः) नेत्रों के तुल्य दिन रात संयुक्त न हों किन्तु जैसे दोनों आंखों के बीच एक नाक है पर तो भी दोनों नेत्र समीप हैं वैसे थोड़ी २ सायं प्रातः समय की मेड़ रूप रुकावट दिन रात में है और दिन रात्रि भी निकट २ ही हैं (रात्रिभिः) रात्रियों के साथ (अस्मै) इस दिन को तथा (अहभिः) दिनों के साथ रात्रि को (दशस्येत्) संयुक्त करे (मुहुः) फिर इन को (उन्मिमीयात्) पृथक् २ करे कि जिस से (दिवा, पृथिव्या) दिन रात (सबन्धू) एक कार्य में बंधे वा एक आधार वाले (मिथुना) संयुक्त हों सो उस स्रष्टा ने नहीं किया ॥

भा०—इस जगत् में सृष्टिप्रक्रिया के अन्य नियमों के साथ इस नियम का भी विचार करना चाहिये कि जो एक उपादान से पृथक् २ उत्पन्न हुए दो वस्तु वा दो कार्य [जो किसी कारण प्रसिद्ध बड़े भेद वाले हों] कार्य दशा में परस्पर मिल नहीं जाते। जैसे एक सूर्य से उत्पन्न हुए दिन रात नहीं मिलते। सूर्य इन का पितृस्थानी उत्पादक है स्त्रीलिङ्ग पुंल्लिङ्ग दोनों को मान के सूर्य के कन्या पुत्र-वत् कहे वा माने जाते हैं। वे दोनों संयुक्त नहीं होते। अर्थात् परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध रखने वाले जगत् के उपकारक सदैव साथ रहते हुये एक दूसरे के पीछे प्रतिक्षण दौड़ता है तो भी दोनों संयुक्त नहीं हो जाते। वैसे ही एक पिता माता से उत्पन्न हुए कन्या पुत्र-सगे भाई बहिन कभी विवाह सम्बन्ध न करें। यह ज्ञापक के साथ परमात्मा की आज्ञा है। इसी वेद की आज्ञा को मान कर आर्य लोगों से भिन्न अन्य द्वीप निवासी लोग भी सगे भाई के साथ बहिन का विवाह नहीं करते वा कराते। विवाह सम्बन्ध का यह नियम मनुष्यों में ही है किन्तु पश्वादि में यथेष्ट मैथुन व्यवहार होता है यही उन में पशुपन है। परन्तु मनुष्यों को इस नियत व्यवहार की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जा-

मयः कृणवन्नजामि । उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ १० ॥

आ । घ । ता । गच्छान् । उत्तरा । युगानि । यत्र । जामयः । कृणवन् । अजामि । उप । बर्बृहि । वृषभाय । बाहुम् । अन्यम् । इच्छस्व । सुभगे । पतिम् । मत् ॥ १० ॥

अ०—यमः पुनराह—(यत्र) येषु युगेषु कालेषु (जामयः) अप्रधाना रात्रयः स्त्रियो वा जामीत्युदकनाम (अजामि) ताभिरकरणीयं व्यभिचारादिकं विरुद्धगुणकर्मस्वभावैर्दिवसैः पुरुषैर्वा संयोगसम्बन्धं(कृणवन्) कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा (ता, घ) तान्यपि (युगानि) (उत्तरा) एतत्कालाद्भिन्नानि मध्ये २ कदापि २ (आ, गच्छान्) आगच्छन्ति—आगमिष्यन्ति वा किञ्च नतु सम्प्रति तादृशः कालोऽस्तीति तस्मात् हे (सुभगे) शोभनो भगः कामोऽस्यामस्ति पक्षान्तरे च शोभनो भगः कामोवाऽस्या अस्तीति तत्सम्बुद्धौ (मत्) मत्तोऽन्यम् (पतिम्) रक्षकम् (इच्छस्व) यात्रस्व (वृषभाय) षष्ठ्यर्थेऽत्र चतुर्थी—तस्यैव सेचनसमर्थस्य (बाहुम्) बलं हस्तं वा (उपबर्बृहि) समीपतो ग्रहीतुमुद्यच्छ ॥

भा०—यथा कदापि महत्या वात्यया मेघाधिक्येन च दिनमपि तमसाच्छाद्यते तदा च बहूनि कार्याणि प्रदीपं प्रज्वाल्य क्रियन्ते । तदा चाहोरात्रौ सम्मिलिताविति वक्तुं शक्यते । अयुक्तसंयोगादेव तद्दुर्दिनमित्युच्यते मन्यते वा जनैः । तथैव कामासक्तिप्रवाहप्राचुर्यकालेऽयुक्तसंयोगोऽपि स्त्रीपुंसयोर्भवतु । नतु तेन सर्वदा सर्वैः कर्त्तव्यो विरुद्धः संयोगः । कदाचिद्दिवसेऽपि तमोरूपा

रात्रिरायातु नच सदैव तेनाहोरात्रयोः संयोगः सम्भवति । कालचक्रपरिवर्त्तनेन प्रकृतिविरुद्धानां शाश्वतिकविरोधिनामहोरात्रादीनां भवति कदापि संयोगस्तदानीमपि तस्य कर्त्तव्यत्वं न जायतेऽपितु विषभक्षणवदनिष्टकरमेव तत्तदापि भवति तथैव देवासुरप्रकृतीनां पुरुषाणां स्त्रीपुरुषाणां वाऽगम्यागमनरूपः सम्बन्धो भवतु परं तदापि स दुःखहेतुरधर्मएव मन्यते तत्कर्त्तारश्चाधर्मिणइति ॥ १० ॥

भाषार्थः—यम फिर बोला कि (यत्र) जिन समयों में (जामयः) तेज वा प्रकाश रहित जल के शीतादि गुणों वाली रातें [उदक नामों में जामि शब्द निघण्टु में पढ़ा है] वा कुलस्त्रियां (अजामि) उन के न करने वा न होने योग्य विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव दिवसों वा पुरुषों के साथ संयोग सम्बन्ध वा व्यभिचारादि (कृणवन्) करती हैं वा करेंगी अथवा किया है (ता, घ) वे भी (युगानि) समय (उत्तरा) इस काल से भिन्न बीच २ कभी २ (आ, गच्छान्) आये आते वा आवेंगे अर्थात् अब ऐसा समय नहीं है [अर्थात् जब दुर्दिन होने का सामान वा अवसर नहीं वा जब मनुष्यों को कामासक्ति आदि दोष दबाये न हों धर्म की ओर अधिक झुकावट हो तभी अयुक्त सयोगादि अकर्त्तव्य से बचने के लिये ऐसा कहना वा मन में दृढ़ संकल्प करना चाहिये । अधर्म की वृद्धि के समय वैसा करना चाहिये यह भी मन्त्र का आशय नहीं है किन्तु अच्छे समय में सर्वथा बचना और आपत्काल में यथाशक्ति बचने का उद्योग करना चाहिये] इस से हे (सुभगे) कामवृद्धि का निमित्त रात्रि ! वा अच्छे काम अथवा अङ्गों से युक्त स्त्रि ! (मत्) मुझ से भिन्न (पतिम्) रक्षक पुरुष की (इच्छस्व) इच्छा कर (वृषभाय) वसी सेचन क्रिया में समर्थ पुरुष के (बाहुम्) बल वा हाथ को [बाहुर्वै बलं] यह ब्राह्मणग्रन्थों का लेख है (उप, बर्बृहि) समीप से पकड़ने का उद्योग कर ॥

भा०—जैसे कभी २ दिन में भी अधिक भयङ्कर आंधी और मेघ एक साथ जब आते हैं तब कुछ २ प्रकाश के बने रहने पर भी दिन अन्धकाररूप होजाता तब दीपक जला कर बहुत से काम किये जाते हैं तब प्रकाश अन्धकाररूप दिन रात

मिल गये ऐसा कह सकते हैं वा दिन में रात्रि होगयी ऐसा कहा जाता है उन प्रकाशान्धकार का अयुक्तसंयोग होने से ही वह दुर्दिन कहा वा माना जाता है। वैसे ही कामासक्ति का प्रवाह बढ़ने के समय स्त्रीपुरुषों का अयुक्त व्यभिचारादि संयोग हो परन्तु उस से सब काल में वह विरुद्ध संयोग कर्त्तव्य नहीं ठहरता। कभी दिन में भी रात्रि हो जाय तो सदा दिन का संयोग नहीं हो सकता। कालचक्र के परिवर्त्तन से सनातन विरोधी स्वभाव विरुद्ध दिन रात्रि आदि का कभी संयोग हो तब भी वह कर्त्तव्य वा अच्छा नहीं हो जाता किन्तु विष भक्षण के तुल्य वह तब भी हानिकारक ही होता है वैसे ही देवप्रकृति वा असुरप्रकृति पुरुषों वा स्त्रीपुरुषों का अगम्यागमनरूप सम्बन्ध कभी होजाय पर तब भी वह अधर्म वा उस के करने वाले अधर्मी ही माने जायगे ॥१०॥

किं भ्रातांऽसद्यदंनाथं भवांति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छांत्। कामंमूता बह्वे३तद्रंपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिंपृग्धि ॥ ११ ॥

किम्। भ्राता। असत्। यत्। अनाथम्। भवाति। किम्। उइति। स्वसा। यत्। निर्ऋतिः। निगच्छात्। कामंऽमूता। बहु। एतत्। रपामि। तन्वा। मे। तन्वम्। सम्। पिपृग्धि ॥११॥

भा०-यमी पुनराह-(यत्) यस्मिन् सति भगिन्यादिकम् (अनाथं,भवाति) प्रकाशैश्वर्यविहीनं भरणपोषणमन्तरा दुःखं भुङ्क्ते वा सः (किंभ्राता,असत्) अस्ति ? अर्थाद् भर्तृभ्रातृशब्दावेकार्थौ योऽनुजान् भ्रातॄन् स्वसारं च सर्वप्रकारेण भरति सएव भ्राता भर्त्ता वा नचानयोः कश्चिद्भेदोऽस्ति। (यत्) या भ्रातरि सति (निर्ऋतिः) दुःखं भुञ्जानाऽशोभमाना वा (निगच्छात्) नितरां भ्रमेत्, सा (किम्,उ,स्वसा) अर्थाद्या भ्रातुः सम्बन्धात्सु-सुखिन्यस्ति-भवति सा स्वसा न च तथाऽहमस्मि पुनः किं मयि स्वसृत्वम्। अतस्त्वम्

(मे) मम (तन्वा) स्वरूपेण शरीरेण वा सह स्वम् (तन्वम्) स्वरूपं शरीरं वा (सम्पिपृग्धि) संयोजय (काममूता) कामेन त्वदीयकान्त्या बद्धा कामासक्ता वाऽहम् (एतत्, बहु, रपामि) बहु कथयामि तथासति मयि स्वसृत्वं त्वयि भ्रातृत्वं च सङ्घटेत ॥

भा०-रात्रिरूपा स्वसा यथा प्रतिक्षणं दिवसेन सन्निकृष्टापि गच्छन्ती दिवसभ्रातुः प्रकाशशोभां प्रार्थ्यमानेव प्रतीयते। तथैव काचिद्भगिन्यपि यदि भ्रात्रा संयोगं सर्वप्रकारैः प्रार्थयेत् ॥११॥

भावार्थः-यमी फिर बोली कि-(यत्) जिस के विद्यमान होने पर भगिन्यादि (अनाथं,भवाति) प्रकाशरूप शोभा की पुष्टि से रहित राति वा भरणपोषण के बिना दुःख भोगती है वह (किं, भ्राता, असत्) क्या भाई है ? अर्थात् भर्त्ता भ्राता दोनों एकार्थ शब्द हैं जो अपने भाई बहिनों का सब प्रकार से भरण पोषण करे वही भ्राता वा भर्त्ता है इन दोनों में कुछ भेद नहीं एक धातु से दोनों शब्द निकले हैं (यत्) जो भ्राता के होने पर भी (निर्ऋतिः) शोभा प्रकाशरहित वा दुःख भोगने वाली होकर (निगच्छात्) निरन्तर भ्रमती रहे (किमु स्वसा) वह क्या बहिन है ? अर्थात् भगिनी वाचक स्वसाशब्द का अर्थ है कि जो भ्राता के सम्बन्ध से अच्छे प्रकार सुखिनी रहे वह स्वसा पर मैं वैसी सुखिनी नहीं हूं तो मुझ में स्वसृपन क्या हुआ ? इसलिये तुम (मे) मेरे (तन्वा) स्वरूप वा शरीर के साथ अपने (तन्वम्) स्वरूप वा शरीर को (संपिपृग्धि) संयुक्त करो (काममूता) तुझ दिन की कान्ति शोभा में बद्ध वा कामासक्त मैं (एतत्, बहु, रपामि) यह बहुत कहती हूं ऐसा होने पर ही मुझ में स्वसृपन और तुम में भ्रातृपन सङ्घटित होगा॥

भा०-रात्रिरूप दिन की भगिनी जैसे प्रतिक्षण दिन के समीप २ आगे पीछे चलती हुई दिवस भाई की प्रकाश शोभा को चाहती हुई सी प्रतीत होती है वैसे कोई भगिनी यदि अपने भाई के साथ संयोग करने की प्रार्थना करे तो ॥११॥

न वा उ ते तन्वा तन्वं१ संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥१२॥

न। वै। उइति। ते। तन्वा। तन्वम्। सम्। पपृच्याम्। पापम्। आहुः। यः। स्वसारम्। निगच्छात्। अन्येन। मत्। प्रमुदः। कल्पयस्व। न। ते। भ्राता। सुभगे। वष्टि। एतत्॥१२॥

भा०—यमः पुनराह—हे यमि रात्रि (ते) तव (तन्वा) स्वरूपेण स्वं (तन्वम्) स्वरूपं (नवाउ, संपपृच्याम्) नैव संपर्चयामि नहि संयोगं कर्त्तुमुत्सहे यतः कारणात् (यः) यो भ्राता (स्वसारम्) भगिनीं (निगच्छात्) गच्छेत्तया संयोगं कुर्यात् तं (पापम्) पापिनम् (आहुः) कथयन्ति सनातनोऽयं धर्मः स्वस्रा संयोगनिषेधः। तथा सति संयोगादन्यविधं भरणं भ्रातृत्वे संघटते तथाविधभरणाभावेऽप्यन्यविधभरणसत्त्वाद् भ्रातृत्वे स्वसृत्वे नास्ति कश्चिद्बाधइति। तस्मात् हे (सुभगे) स्वसस्त्वम् (मत्) मत्तः (अन्येन) पुरुषेण स्वयोग्येन साकम् (प्रमुदः) भोगानन्दान् (कल्पयस्व) समर्थय (ते) तव (भ्राता) भरणाद्भ्रातृत्वयुक्तोऽप्ययम् (एतत्) कृत्यम् (न, वष्टि) न कामयते अर्थादन्यद्भरणं तु स्वीक्रियते तेनैव मयि भ्रातृत्वं त्वयि स्वसृत्वं च न विहन्यते॥

भा०—दिवसेनैव स्वरूपतो विभक्तेन रात्रिस्वरूपं पृथग्व्यवस्थाप्यते। यदि दिनं रात्रिरूपं तमः सर्वतो विघातयेत्तदा स्वरूपनाशे कस्य भरणं स्यात्? दिनं प्राणिनः कार्येषु योजयति कर्मसु धावमानाः परिश्रान्ताश्च मनुष्यादयो रात्रौ तमःप्रधानां निद्रां लभन्ते। दिनं कर्मप्रवृत्तिनिमित्तं कर्मप्रवृत्तिः श्रमस्य निमित्तं श्रमो निद्राया निमित्तं निद्रा तु रात्रेर्भोजनमेव। तादृशस्वरूपरक्षणभोजनदानादिना रात्रेर्भरणं दिवसेन प्रत्यहं क्रियतएव तेनैव तस्य भ्रातृत्वमेवं दिवससम्बन्धादेव सु—अस्ति स्वस्था निर्विघ्ना

रात्रिः स्वकार्यं साधयति तस्मात्तस्याः स्वसृत्वमप्यस्त्येव । तस्याः प्रकाशप्रवेशोद्योगस्तु प्रदीपे पतङ्गपातवत्स्वस्याः समूलघातार्थत्वादविद्याधिक्यसूचनायैव । एवमनयोर्भ्रातृत्वे स्वसृत्वे च सिद्धेऽपि प्राकृतविरोधान्न कदापि सङ्गच्छेते । यथाऽनादिकालाद्दिवसभ्रात्रा संयोगमिच्छन्तीव रात्रिर्निरन्तरं पश्चाद्गच्छति । न च परमात्मनियमे बद्धत्वात्कदापि संयोगं लभते तथैव प्रार्थ्यमानयापि स्वस्रा सह भ्रात्रा कदापि संयोगसम्बन्धो न कार्यइति । अहोरात्रयोः सार्वकालिकसंयोगाभावं दर्शयता सूचितमेतदिति ॥ १२ ॥

भाषार्थः– यम फिर बोला कि हे यमि रात्रि ! (ते) तेरे (तन्वा) स्वरूप के साथ अपने (तन्वम्) स्वरूप को (न वा उ, संपपृच्याम्) संयुक्त नहीं करता वा नहीं करूंगा ऐसा करने की मेरी इच्छा वा उत्साह नहीं है क्योंकि (यः) जो भ्राता (स्वसारम्) भगिनी से (निगच्छात्) गमन करता है वा करे उस को विचारशील धर्मात्मा (पापम्) पापी (आहुः) कहते हैं । [अर्थात् भगिनी के साथ संयोग करना पाप है और इसी से वैसा करने वाला पापी कहाता है । और दुःख हेतु कर्म का नाम पाप है सो रात्रि दिन के संयोग से भी दुर्दिन होने से प्राणियों को महाकष्ट होता है इस कारण जब कभी २ दुर्दिन होने से ही दुःख होता है तो यदि सदा ही प्रकाशान्धकार का संयोगरूप दुर्दिन हो तो अपार दुःख होना सम्भव है इस से दिन रात्रि का संयोग कर्म भी बड़ा पाप है और इसी दृष्टान्त से मनुष्यों में भाई बहिन का संयोग भी बड़ा पाप है इस कथन से बहिन भाई का संयोग सम्बन्ध न होना सनातनधर्म दिखाया है] ऐसा होने पर संयोग से भिन्न प्रकार का भरण भ्रातृपन में घटेगा । भर्त्ता संबन्धी भरण न होने पर भी अन्य प्रकार का भरण होने से मेरे भ्रातृपन और तेरे स्वसृपन में कुछ दोष नहीं है । इस कारण हे (सुभगे) चन्द्रमा के संयोग से अच्छे प्रकार मनुष्यादि में कामवृद्धि का आधार रात्रि स्वसः तू (मत्) मुझ से भिन्न (अन्येन) अन्य अपने तुल्य कलङ्क युक्त चन्द्रमा के साथ (प्रमुदः) प्राणि सम्बन्धी भोगानन्दों को (कल्पयस्व) समर्थ कर (ते) तेरा (भ्राता) भाई भरण करने वाला होने से भ्रातृपन से युक्त भी (एतत्) इस कृत्य

को (न, वष्टि) नहीं करना चाहता। अर्थात् अन्य प्रकार का भरण मुझे स्वीकार है इसी से मुझ में भ्रातृपन और तुझ में स्वसृपन दूर नहीं हो सकता ॥

भा०-अपने स्वरूप से पृथक् रहने वाले दिवस से ही रात्रि का स्वरूप पृथक् व्यवस्थित होता है। यदि दिन रात्रिरूप अन्धकार को सर्वत्र से नष्ट कर दे तो रात्रि के स्वरूप से नष्ट हो जाने पर किस का भरण हो ? और दिन ही प्राणियों के शरीर वा बुद्धि में सत्वगुण वा रजोगुण को बढ़ा कर प्राणियों को कर्मों में संयुक्त करता और वे अपने २ कर्मों की सिद्धि के लिये भागते हुए प्राणी सन्ध्या तक थक जाते हैं इसी से मनुष्यादि को तमोगुणरूप निद्रा रात्रि में प्राप्त होती है। सो कर्मों में प्रवृत्ति होने का हेतु दिन, कर्मों में प्रवृत्ति थकने का हेतु, थकना निद्रा का हेतु और निद्रा तो रात्रि का निज भोजन वा स्वरूप ही है। इस प्रकार रात्रि के स्वरूप की रक्षा वा भोजनादि दे कर रात्रि का भरण सदा दिन ही करता है इसी लिये वह रात्रि का भ्राता है और दिन के सम्बन्ध से ही रात्रि अपनी ठीक अच्छी दशा में विद्यमान रहती हुई अपने कार्यों को सिद्ध करती है इस से उस का स्वसृपन भी ठीक बन जाता है। और उस रात्रि का प्रकाशरूप दिन भ्राता के साथ समागम करने का उद्योग तो दीपक में गिरने वाले अविद्यायुक्त जन्तुओ के नाश के तुल्य स्वरूपनाशार्थ होने से अविद्यान्धकार की अधिकता जताने के लिये है। अर्थात् जैसे पतङ्ग दीपज्योति को अपना बड़ा इष्टसाधक मान कर उस के मनोहारि सुन्दर तेज को लेने के लिये गिरते हैं किन्तु अपने नष्ट हो जाने का ज्ञान उन को नहीं होता वैसे ही रात्रि जो प्रकाश को अपने शरीर में लगाना चाहती है इस से उस के स्वरूप का नाश अवश्य हो जायगा। पर रात्रि के न रहने पर संसार की व्यवस्था कदापि ठीक नहीं रह सकती इस से परमेश्वर को ही ऐसा करना स्वीकार नहीं। इस प्रकार इन दोनों का भाई बहिन होना सिद्ध होने पर भी स्वाभाविक विरोध होने से मेल नहीं होता। जैसे अनादि काल से दिवस भ्राता के साथ संयोग चाहती हुई रात्रि निरन्तर दिन के पीछे २ चलती है परन्तु परमात्मा के नियम में बंधी होने से कभी संयोग को प्राप्त नहीं होती वैसे ही भगिनी के प्रार्थना करने पर भी भ्राता को चाहिये कि उस के साथ कभी विवाह सम्बन्ध न करे सो दिन राति को सब काल में संयोग के अभाव को दिखाते हुए परमेश्वर ने यह सूचित किया है ॥ १२ ॥

ब॒तो ब॑तासि यम॒ नैव॑ ते॒ मनो॒ हृद॑यं चाविदाम। अ॒न्या किल॒ त्वां क॒क्ष्ये॑व यु॒क्तं परि॑ष्वजाते॒ लिबु॑जेव वृ॒क्षम् ॥ १३ ॥

बतः । बत । असि । यम । न । एव । ते । मनः । हृदयम् । च । अविदाम । अन्या । किल । त्वाम् । कक्ष्याऽइव । युक्तम् । परि । स्वजाते । लिबुजाऽइव । वृक्षम् ॥ १३ ॥

अ०—यमी पुनराह—(बत) अहो खेदः ! हे (यम) दिवस! त्वम् (बतः) निर्बलः (असि) (ते) तव (मनः) प्राणिनामवबोधनहेतुस्वरूपं पक्षान्तरे मनःस्थं संकल्पम् (हृदयं, च) निद्रातमोगुणादिहरणशीलं स्वरूपम् [वृह्रोः षुग्दुकौ च ४ । १०० इत्युणादिसूत्रेण हृधातोर्हृदयम्] बुद्धिस्थं निश्चयं च (नैवाविदाम) वयं नैव जानीमः किं त्वमिच्छसीति यतस्त्वामनुधावमानामपि मां प्रत्यावृत्त्य न पश्यसि तेनानुमीयते (अन्या,किल) कापि (कक्ष्येव युक्तम्) रज्ज्वा बद्धं पशुमिवाग्रेऽग्रे त्वामाकर्षतीति (लिबुजेव वृक्षम्) लिबुजा लता यथा वृक्षं वेष्टयति तद्वत्त्वन्मनोऽन्यस्यां कस्यामपि वेष्टितं किम् ? ॥

भा०—पुरुषः कस्यामपि स्त्रियामेव तिष्ठति । स्त्र्यपेक्षया पुरुषत्वं पुरुषापेक्षया च स्त्रीत्वम् । यदा परमेश्वरोऽपि प्रकृतिरूपां स्त्रियमाश्रयति व्याप्नोति तस्यामेव च जगन्निर्मिमीते तस्मादेव सोऽपि पुरुषइत्युच्यते किं पुनः साधारणः कोऽपि स्त्रियं विहाय पुरुषः स्यादिति सम्भवति ? न कदापीत्यर्थः । विरक्ता विद्वांसोऽपि सरस्वतीं वृणवत एव । एवं त्वं पुरुषोऽसि चेत्कस्यामप्यासक्तएव भवितुमर्हसि नोचेन्मत्तो विरक्तः कथं भवेः । वस्तुतः सत्यमेवेदं यद्देवकोटिस्थो दिवसपुरुषः कान्तिशोभाबुद्धिचिदादिनामिकाभिः सत्त्वगुणात्मिकाभिर्देवपत्नीभिराकृष्टस्ता एवप्रबोधयितुं प्रमोदयितुं वाग्रेऽग्रे धावति दिवसागमनमेव सर्वाः सत्त्वगुणशक्तयोऽपेक्षन्ते सत्त्वशक्तीनामलंकरणायैव दिवसस्य प्रवृत्तिः । ताभिश्च सत्त्वशक्तिभिर्दिवसस्य समागमोऽपि भवत्येव तास्वेव दिवस आसक्तस्ताश्च दिवस आसक्ताइति सर्वं तथ्यमेव ॥१३॥

भावार्थः—यमी रात्रि फिर बोली—हे (यम) दिवस! (बत) अहो! बड़े खेद का स्थान है तुम (बतः) निर्बल [क्षीण] (असि) हो (ते) तुम्हारा (मनः) प्राणियों को सचेत करने वाला स्वरूप वा पक्षान्तर में मन का सङ्कल्प (च) और (हृदयम्) निद्रा तमोगुणादि हरने वाले स्वरूप को वा पक्षान्तर में बुद्धिस्थ निश्चय को (नैवाविदाम) हम नहीं जानते कि तुम क्या चाहते हो क्योंकि तुम्हारे पीछे निरन्तर भागती हुई भी मुझ को लौट कर तुम नहीं देखते तिस से अनुमान होता है कि (अन्या,किल) निश्चय कर अन्य कोई स्त्री (कक्ष्येव, युक्तम्) रस्सी से बांधे पशु के तुल्य आगे२ तुम को खेंचती है। तथा (लिबुजेव, वृक्षम्) जैसे वृक्ष में लता लिपटती है वैसे तुम्हारा मन क्या अन्य किसी स्त्री में लगा है?॥

भा०—पुरुष किसी न किसी स्त्री को ही ग्रहण किये रहता है स्त्री की अपेक्षा पुरुषपन की और पुरुष की अपेक्षा स्त्रीपन की सिद्धि है यदि दोनों का परस्पर सम्बन्ध न हो तो स्त्री वा पुरुष नहीं कहे वा माने जा सकते सो संसार में ही नहीं किन्तु अन्यत्र वेद में कहे [समानं वृक्षं परिषस्वजाते०] अनुसार पुरुष नामक परमेश्वर भी उत्पत्ति स्थिति प्रलय सब दशाओं में प्रकृतिरूप स्त्री में ही व्याप्त रहता और उस के साथ अपने स्वाभाविक संयोग से उसी प्रकृति रूप स्त्री में सब जगत् को उत्पन्न करता है इसी कारण परमेश्वर भी पुरुष कहाता है तो साधारण कोई स्त्री के साथ सम्बन्ध हुए विना पुरुष हो यह कदापि सम्भव नहीं। विरक्त विद्वान् लोग भी विद्यारूप सरस्वती स्त्री को स्वीकार करते ही हैं। इस के अनुसार यदि तुम पुरुष हो तो अवश्य ही किसी न किसी स्त्री में आसक्त होगे क्योंकि ऐसा न होता तो मुझ से विरक्त क्यों होते?। और वास्तव में यह सब कथन खेल के समान नहीं किन्तु सत्य से पूर्ण विद्या का भण्डार ही है कि जो देव कोटिस्थ दिवस पुरुष कान्ति, शोभा, दीप्ति, बुद्धि वा चित् आदि नामक सत्त्वगुण स्वरूप देवपत्नियों से आकर्षित हुआ उन्ही को सचेत शोभित वा आनन्दित करने के लिये आगे२ भागता है। सत्त्वगुण सम्बन्धिनी सब शक्तियां सदा दिन के आगमन को चाहती हैं और उन सत्त्वशक्तियों को भूषित करने के लिये ही दिन की प्रवृत्ति है उन सत्त्वशक्तियों के साथ दिवस पुरुष का समागम भी होता ही है उन्हीं में दिवस पुरुष आसक्त है और वे शक्तियां दिवस में आसक्त हैं इसीलिये रात्रि की प्रार्थना को दिवस पुरुष नहीं स्वीकार करता। जैसे कोई युवा सुरूपवान् पुरुष किसी सुरूपवती से विवाह-सम्बन्ध कर बैठे तो वह किसी काली की प्रार्थना को स्वीकार नहीं कर सकता वा यों कहो कि सामान्य कर अच्छे पदार्थ की प्राप्ति को छोड़ कर बुरे को कोई भी ग्रहण करना नहीं चाहता ॥ १३ ॥

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि॑ष्वजाते

लिबुजेव वृक्षम् । तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥१४॥

अन्यम् । उ । सु । त्वम् । यमि । अन्यः । उ । त्वाम् । परि । स्वजाते । लिबुजाऽइव । वृक्षम् । तस्य । वा । त्वम् । मनः । इच्छ । सः । वा । तव । अध । कृणुष्व । संविदम् सुभद्राम् ॥१४॥

अ०—यमः पुनराह—हे (यमि) रात्रि (त्वम्, उ) अन्यम् परिष्वज (उ, त्वाम्, अन्यः) कोपि त्वद्योग्यः तमःप्रधानः पुरुषः (लिबुजेव, वृक्षम्) लता वृक्षमिव (सु, परिष्वजाते) सुष्ठु परिष्वजेत् (तस्य) चन्द्रमसः पुरुषस्य (मनः) कामादिप्रबोधहेतुस्वरूपम् (त्वम्, इच्छ) स्वस्वरूपे धारय (सः, वा) (तव) स्वरूपं धारयतु (अध) द्वयोः स्वरूपयोगानन्तरम् (सुभद्राम्, संविदम्, कृणुष्व) इष्टसंवेदनं कुर्वनुभव ॥

भा०—पुरुषः कामपि स्त्रियमाश्रयति, अस्त्विदं सत्यम् । प्राणी किमप्यवश्यं भुङ्क्ते तेन किमभक्ष्यमपि भक्षणीयतामापद्यते? न कदापि । दिवसोऽपि स्वयोग्यां शोभादिरूपां स्त्रियमाश्रयति रात्रिरपि स्वयोग्यं कमपि कलङ्कयुक्तं चन्द्रादिकमाश्रयति सर्वमिदं स्वाभाविकम् । यथासर्वत्रैवोचितानुचितं विचारणीयं भवति तथैवात्रापि विरुद्धगुणकर्मस्वभावयोः सृष्टिनियमाद्वा विरुद्धयोः समागमोऽनुचितोऽकर्त्तव्यएवास्तीत्यहोरात्रसंवादमिषेण परमात्मना प्रदर्शितमिति वेदानुयायिभिः श्रद्धातव्यमिति ॥१४॥

भाषार्थः—यम फिर बोला कि—हे(यमि)रात्रि (त्वम् , उ) तू (अन्यम्)अन्य पुरुष को प्राप्त हो (त्वाम् , उ, अन्यः) और तुझ को अन्य तेरे तुल्य पुरुष (लिबुजेव,वृक्षम्) वृक्ष में लता के तुल्य (सु, परिष्वजाते) अच्छे प्रकार तेरे स्वरूप में लिप्त हो (तस्य) उस चन्द्रादि पुरुष के (मनः) कामादि को उत्तेजित करने वाले स्वरूप को (त्वम् , इच्छ) अपने स्वरूप में धारण कर (सः, वा) अथवा वह (तव) तेरे स्वरूप को धारण करे । (अध) तुम दोनों का स्वरूप मेल होने पश्चात् (सुभद्राम्, संविदम्, कृणुष्व) इष्टसिद्धि के फल का अनुभव कर ॥

भा०-पुरुष किसी स्त्री का आश्रय करता और स्त्री किसी पुरुष के आधीन रहती यह जड़ चेतन सब का प्राकृत नियम है सो सत्य हो रहो तो भी जैसे प्राणियों का कुछ न कुछ खाना स्वाभाविक है तथापि इनने से अभक्ष्य का भक्षण करना अच्छा नहीं माना जाता पगों से चलना स्वाभाविक है तथापि कण्टकादि में चलना उचित नहीं माना जाता वैसे कोई पुरुष किसी स्त्री से समागम करे यह ठीक नहीं होता। दिन भी शोभा कान्ति दीप्ति आदि नामक स्त्री का आश्रय करता है और रात्रि भी अपने तुल्य किसी कलङ्कयुक्त चन्द्रमादि पुरुष का सङ्ग करती है यह सब स्वाभाविक ही है। जैसे सर्वत्र ही उचित अनुचित विचारणीय होता है वैसे यहां भी विरुद्ध गुणकर्मस्वभाव वालों वा सृष्टिक्रम के नियम से विरुद्ध दो पदार्थों का समागम अनुचित अकर्त्तव्य ही है यह प्रकाशान्धकार स्वरूप दिन रात्रि सम्बन्धी संवाद के बहाने से परमेश्वर ने वेदद्वारा उपदेश किया है सो वेदमतानुयायियों को श्रद्धापूर्वक स्वीकर्त्तव्य है ॥१४॥

सर्वसूक्तेनेदमुक्तं भवति--यथा सर्वेषामेव वेदप्रतिपाद्यविषयाणां सामान्यव्यासार्थसूचने तात्पर्यम्भवति। तथा च "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इति कथयता पूर्वमीमांसाकारेणापि स्वीकृतम्। तथैवात्र सूक्ते देवकोटिस्थपुरुषवाचकजडवस्तूनां देवकोटिस्थजडस्त्रीशक्तिभिः सम्बन्धो जगतः सुदशाप्रवर्त्तकः। चेतनदेवकोटिस्थपुरुषाणां च चेतनदेवकोटिस्थस्त्रीभिरेव सम्बन्धः सुखकरः। यथा वेदे-अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवतेत्यादिरूपेण देवताः परिगणितास्तेषां च पुंस्त्वविवक्षायामन्यत्र स्त्रियोऽपि दर्शिताएव-यथा—अग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसः। वातो गन्धर्वस्तस्याऽऽपोऽप्सरसः। सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः। प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरसः। इत्यादि। अप्सु-अन्तरिक्षप्रदेशेषु सरन्ति गच्छन्त्युपलभ्यन्ते वा या अग्न्यादिदेवानां सम्बन्धिन्यः शक्तयस्ता अप्सरसः। एवं पुंस्त्वयुक्तानामग्न्यादिदेवानां सहचारिण्यो याः स्त्रीत्वभूताः शक्तयस्ताएव तेषां स्त्रियइति वेदाशयः। एवं सर्वत्रैव प्राकृतवस्तुषु सजातीयतुल्यगुणकर्मस्वभावानां स्त्रीपुरुषसम्बन्धउपलभ्यते तथैव मनुष्यादि-

भिरपिकार्यः । सर्वः प्रकाशहीनः स्वभावेनैव प्रकाशमपेक्षते । यथामनुष्यादयः प्राणिनः सर्वप्राप्यापेक्षयाधिक्येन सूर्यचन्द्राग्नि दीपाद्यन्यतमप्रकाशं प्रतिक्षणमपेक्षन्ते न च तेन विना किमपि कर्त्तुं शक्नुवन्ति तथैवात्र तमोरूपरात्रिप्रार्थनमिषेण प्रदर्शितम् । यथा प्राकृतवस्तुषु सजातीयानुकूलगुणानामेव सम्बन्धो दृश्यते तथैव मनुष्यैरपि कर्त्तव्यमिति तात्पर्यम् ॥

भावार्थः—इस सब सूक्त का सामान्य तात्पर्य यह है कि जैसे वेद के सभी विषयों का सामान्य व्याप्तार्थ को सूचित करने में तात्पर्य होता है जैसा कि (परन्तु अ०) इत्यादि सूत्रों में पूर्वमीमांसाकार ने भी स्वीकार किया है। वैसे इस सूक्त में भी देवकोटिस्थ पुरुष वाचक वस्तुओं का देवकोटि की जड स्त्रीशक्तियों के साथ सम्बन्ध होना जगत् को अच्छी दशा में रखने वाला और चेतन देवकोटिस्थ पुरुषों का चेतन देवकोटिस्थ स्त्रीशक्तिओं के साथ सम्बन्ध ही सुखकारी है किन्तु देव पुरुष असुरस्त्री वा असुरपुरुष देवी स्त्री का संयोग जड चेतन सभी में हानि वा दुःख का हेतु होगा । संसार में जो कुछ है वह सब स्त्री पुरुष दो ही भागों में विभक्त है । वेद में जैसे अग्नि वायु सूर्यादि देवता माने हैं उन देव पुरुषों की स्त्रियां भी गिनाई हैं । अग्नि की ओषधिया स्त्री हैं । अन्य वस्तुओं की अपेक्षा ओषधियों में अग्नि अधिक रमता है पार्थिव अग्नि के तेज से ही ओषधियां पकती और अलंकृत शोभायुक्त दर्शनीय होती हैं । ऐसे ही वायु देव पुरुष की स्त्री जल हैं । और सूर्य की स्त्रिया किरण है । इत्यादि—अप् नाम अन्तरिक्ष वा अवकाश में प्राप्त होने से अग्नि आदि की सम्बन्धिनी शक्तियां अप्सरा कहाती हैं । पुंस्त्वगुण युक्त अग्नि आदि के साथ सम्बन्ध रखने वाली स्त्रीगुणप्रधान शक्तिया उन २ की स्त्री कहाती है । सब प्रकाश रहित वस्तु स्वभाव से ही प्रकाश को चाहते हैं जैसे मनुष्यादि प्राणी सूर्य चन्द्र अग्नि दीपकादि में किसी के प्रकाश को सब प्राप्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिकता से प्रतिक्षण चाहते हैं । कोई वा कई ऐसे अन्धकार में हो जहां कुछ न दीखे तो जिस ओर कुछ प्रकाश दीखेगा उसी में प्राण की रक्षा मान कर अवश्य भागेंगे । यही आशय रात्रि की प्रार्थना के बहाने से यहां दिखाया गया है । ऐश्वर्यादि से प्रकाशित को सभी चाहेंगे पर वह यथोचित अधिकारी देख के सम्बन्ध करे । जैसे प्राकृत वस्तुओं में सजातीय अनुकूल गुण वालों का ही संयोग सम्बन्ध होते दीखता है जैसे स्वभाव विरुद्ध दिन रात आदि का मेल नहीं होता वैसे ही मनुष्यों को भी अनुकूल गुणों वाले सजातीयों के साथ ही मेल वा सम्बन्ध करना चाहिये स्वभाव विरुद्धों के साथ नहीं ॥ इति ॥ ह०—भीमसेन शर्मा सं० आ० सि०

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

४ भाग	संवत् १९४७	अङ्क ११

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्र॒ह्मा मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

गत पृ० १२२ पं० १० से आगे सद्धर्मदूषणोद्धार का उत्तर ॥

किन्तु जहां विशेष कर वेदादिशास्त्र के सिद्धान्त से विपरीत हो वहीं कुछ लिखना चाहता हूं । अर्थात् धर्मलक्षणविषयक एक श्लोक में "स्वस्य च प्रियमात्मनः" वाक्य का अर्थ उक्त पं० हरि० जी ने लिखा है कि "जैसे गर्भस्थिति होने वा जन्म होने से आठवें वर्ष यज्ञोपवीत कहा है उन दो पक्षों में जो पक्ष जिस को प्रिय हो उस को उस के अनुकूल करना चाहिये यह अभिप्राय अपने अपने आत्मा को धर्म कहने का है । यदि यही अभिप्राय हो कि अपने आत्मा को जो प्रिय है वह भी धर्म का लक्षण है तो किसी को वेश्यागमन प्रिय हो वह भी धर्म कहना चाहिये इस कारण उक्त अर्थ किया सो ठीक नहीं" क्यों? यदि जन्म से वा गर्भस्थिति से आठवें वर्ष यज्ञोपवीत का विधान करने में दोनों पक्ष धर्मशास्त्र के वा वेद के अनुकूल हैं तो वेद वा स्मृति कहने से वह धर्म का लक्षण आगया उस के लिये "स्वस्य च प्रियमात्मनः" कहना ठीक नहीं । यदि धर्मशास्त्र के दोनों पक्ष नहीं तो किस की आज्ञा से कर्त्तव्य ठहरे? । यदि मतान्तर माना जावे तो भी किसी पक्ष के अनुसार काम करो वह भी धर्मशास्त्रानुसार ही कहावेगा । इस लिये यह अभिप्राय निकालना ठीक नहीं क्योंकि वैसा मानने से वह कथन ही व्यर्थ पड़ता है । इस लिये उस का अभिप्राय यह

है कि जिस को अपना आत्मा अपने लिये हितकारी समझता हो वैसा ही अन्य के साथ भी करे इसी को आत्मौपम्यदर्शन धर्म भी कह सकते हैं। जैसे कोई नहीं चाहता कि मेरी चोरी हो जावे, मुझ से कोई कठोर वा कुत्सित वचन कहे, मेरी स्त्री को कोई कुदृष्टि से देखे, मेरे उत्तम पदार्थों को लेना चाहे इत्यादि दुष्टकर्म वा अधर्मों को अपना आत्मा नहीं चाहता और मुझ को सब लोग मित्रदृष्टि से देखें, मुझ से प्रिय और हितकारी वचन बोलें, मेरी स्त्री को माता वा भगिनी आदि की दृष्टि से देखें, मेरे साथ हितकारी वा सत्य बोलें, मेरी सब प्रशंसा करें और मेरी रक्षा वा सेवा करें इत्यादि प्रकार का वर्त्ताव सब का आत्मा अन्य लोगों वा जीवों से अपने लिये चाहता है और यही आत्मा को प्रिय भी है। ऐसा ही अन्य के लिये चाहना धर्म का लक्षण है अर्थात् किसी का आत्मा दुःख भोगना नहीं चाहता और सुख भोग करना सब का आत्मा चाहता है वैसा ही चाहना सब प्राणियों के लिये करना धर्म का लक्षण है। और द्वितीय तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जिन कर्मों के आदि अन्त वा मध्य में किसी प्रकार लज्जा शङ्का भय वा सङ्कोच आत्मा में उत्पन्न होवे वह काम जानो आत्मा को प्रिय नहीं और जिन के आदि अन्त वा मध्य में सदा आत्मा में उत्साह बढ़े वे सब काम जानो आत्मा को प्रिय हैं। उन का धर्म समझ के प्रारम्भ करना चाहिये। इसी रीति से "स्वस्य च प्रियमात्मनः" वाक्य सार्थक हो सकता है। जो श्रुति स्मृति के अन्तर्गत धर्म का लक्षण आसकता है उस के लिये उक्त वाक्य कदापि नहीं अर्थात् श्रुतिस्मृति शब्दों से कहा गया धर्म का लक्षण प्रायः विद्वानों के लिये है और सदाचार वा आत्मा को प्रिय इन दोनो से सर्वसाधारण लौकिक पुरुष धर्म जानें क्योंकि साधारण अविद्वान् लोग वेद वा धर्मशास्त्र से धर्म नहीं जान सकते सदाचार के अनुकूल और जिस के करने में आत्मा वा मन को उत्साह जान पड़े उसको सामान्य लोग धर्म मान कर सेवन करें। इस प्रकार धर्मशास्त्र के इस गम्भीराशय को न समझ कर पं० हरिशङ्करलाल शास्त्री जी ने शास्त्र से विरुद्ध ऊट पटांग लिख मारा है सो वह उन का कथन ठीक नहीं॥

इति तृतीयपरिच्छेदसमीक्षणम् ॥

इस चतुर्थपरिच्छेद के आरम्भ में निष्प्रयोजन कुछ पङ्क्ति लिखने पश्चात् गङ्गास्नान का माहात्म्य अधिक कर लिखा है। इस विषय में ऊट पटांग बातों

को छोड़ कर हम मुख्य बातों का उत्तर देंगे। इस पुस्तक में आर्य्यसमाजस्थों वा स्वामीदयानन्दसरस्वती जी आदि महात्माओं को कुवाच्य कहे वा लिखे हैं उन का उत्तर हम कुछ नहीं दे सकते। क्योंकि यह सज्जनों के कर्त्तव्य से बाहर है। तथा इन की साधारण अशुद्धियों पर भी हम कुछ नहीं लिखेंगे क्योंकि ऐसी अशुद्धि प्रायः अन्धपरम्परायस्त होने से होती हैं॥

अब प्रथम इन महाशय ने (इमं मे गङ्गे यमुने०) इस ऋग्वेद के मन्त्र पर लिखा है कि इस से गङ्गादि नदियों का माहात्म्य वेद में सिद्ध होता है। इस पर हम को यहां कुछ भी उत्तर देना आवश्यक नहीं क्योंकि आ०सि०भा०३ अं० ४ में अच्छे प्रकार लिखा गया है उस का अनुवाद फिर लिख कर पूरा करना पिष्टपेषण के तुल्य पुनरुक्त होगा। इस लिये जिन लोगों को देखना हो वहीं देख लेवें। तो भी इतना अवश्य कहना है कि (इम मे गङ्गे०) मन्त्र में ९ नदियों के नाम हैं। परन्तु गङ्गा के साथ कोई ऐसा विशेष चिह्न नहीं लगाया गया जिस से उस का सर्वोपरि माहात्म्य माना जावे। पौराणिक लोग सिन्धु विपाशा आदि को भी वैसा ही क्यों नहीं मानते ?। इस से अनुमान होता है कि यदि गङ्गादि का वेद में नाम आने से माहात्म्य बढ़ा होता तो अन्य भी नदियों का बढ़ता किन्तु यह माहात्म्य इन्हीं लोगों का बढ़ाया है और वेद में नाम आने का अन्य ही तात्पर्य है। सो वहां लिखा भी गया है। "अब आगे लिखते हैं कि स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में शिव जी के कहे श्रुति वाक्य लिखते हैं" इस वाक्य से विद्वान् लोग ध्यान देंगे तो इस पौराणिक प्रपञ्च जाल को अवश्य जान लेंगे कि यदि इन को वेद में गङ्गा का माहात्म्य मिलता और वास्तव में होता तो सीधा उस वेद का नाम लिख कर अष्टक अध्यायादि का पता लिखते कि अमुक वेद के अमुक स्थल में ये २ मन्त्र हैं इन के इस २ प्रामाणिक अर्थ से इस २ प्रकार गङ्गा का माहात्म्य सिद्ध होता है। सो ऐसा तभी लिख सकते जो वेद में वैसी बातें होतीं। यह भी एक प्रकार की ठगलीला है कि किसी प्रकार जोड़ जाड़ पद्य बनाये कुछ वेद का लटका भी उन में रक्खा और कह दिया कि ये श्रुति वाक्य हैं (इरावतीं मधुमतीम्०) इत्यादि स्कन्द पुराण के वचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये वचन वेद की नक़ल किये हैं। यदि ये वेद के मन्त्र वास्तव में होते और पं० हरि० जी को भी अपने मन से पूरा निश्चय होता कि ये वेद के मन्त्र हैं तो बड़े बल पूर्वक

वेद के पते सहित लिखते । अर्थात् पं० हरि० जी को भी पूरा निश्चय था कि ये श्रुति वेद की नहीं किन्तु किसी ने वेद मन्त्रों की रचना के तुल्य कई छन्द बना के श्रुति नाम रख दिया है इसी लिये "शिव जी के कहे गङ्गा माहात्म्य प्रतिपादक श्रुति वाक्य" ऐसा लिखा गया । अन्यथा स्पष्ट लिख देते कि ये वेद के मन्त्र हैं जिस का बनाया सब वेद है उस के ही बनाये ये भी समझे जावेंगे फिर शिव जी का नाम इस लिये कहा गया कि जिस से लोग मान लें । अर्थात् साधारण सीधे साधे लोग विश्वास कर लें कि गङ्गा जी का ऐसा माहात्म्य है जो श्रुतियों में भी कहा गया । इस सब कथन का सारांश यह है कि स्कन्द पुराणस्थ (इरावतीं०) इत्यादि वचन वेद के नहीं हैं यदि कोई प्रतिज्ञा करे तो उस को किसी वेद के किसी स्थल में दिखाना चाहिये ॥

आगे—(अयं वैवस्वतो देवो०) यह मनुस्मृति के राजशासन प्रकरण का श्लोक गङ्गा जी के माहात्म्य के लिये प्रमाण में दिया गया है यद्यपि मैं इस श्लोक से भी जो तात्पर्य है इस को किसी स्थल में लिख चुका हूं तथापि यहां उस का लिखना उचित समझा है ।

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मागङ्गां मा कुरून् गमः ॥
यह पद्य मनु० अ० ८ श्लोक ९२ है ।

न्यायालय (कचहरी) में न्यायाधीश साक्षी को उपदेश करे उस में यह भी उपदेश है कि "हे साक्षिन् जो तुम्हारे हृदय में सर्वान्तर्यामी न्यायकारी परमेश्वर सब का साक्षी स्थिर है जो सब शुभ अशुभ कर्मों को ठीक २ देख रहा है अर्थात् मनुष्य आपस में एक दूसरे से छिपा कर किसी बुरे काम को कर सकते हैं किन्तु सर्वान्तर्यामी से छिपा कर कोई भी बुरा काम नहीं कर सकता सो यदि हम लोगों के समक्ष तुम ने मिथ्या साक्ष्य दिया तो कदाचित् हम तुम्हारे मन का हाल न जान पावें परन्तु परमेश्वर तुम्हारे मन का सब वृत्तान्त जानता है" । इस लिये सत्य बोलना अति आवश्यक है ॥

अस्य पद्यस्यायमर्थः—न्यायाधीशः साक्षिणमनुशास्ति यो वैइति निश्चयेन वसुषु वासहेतुषु पृथिव्यादिषु—अतति नैरन्तर्येण व्याप्नोतीति वैवस्वतो यमो नियन्ता देवो द्योतनशीलः,

अन्तर्यामीश्वरस्तव हृदि स्थितः सर्वान्तर्यामित्वात्तेन सर्वसाक्षिणा सह चेद्यदि ते तवाविवादो तस्मात्त्वं विरुद्धत्वं नेच्छसि तर्हि आगं कौटिल्यं मा गमः। अर्थादात्मप्रातिकूल्ये कौटिल्यं प्राप्स्यसि। एवं च गां मा गमः पृथिवीं मा प्राप्नुहि—अर्थादात्मानुकूलाचरणेनैवानित्यपार्थिवजन्ममरणादिजन्यदुःखाद्विमुक्तो भविष्यसि। कुरूंश्च मागमः कुनकान् कल्पितान् व्यहारान् मिथ्याभूतान् मा प्राप्नुहि—आत्मानुकूल्येनैव मिथ्याव्यवहारादपि मोक्ष्यसीत्याशयः। यद्वाऽयमप्यर्थोऽत्र भवितुमर्हति यमः सर्वनियन्ता, विवस्वतो यथावन्न्यायकारिणो देवस्य प्रकाशो यस्तव हृदि (ध्यानैकदेशे) स्थितस्तेन प्रकाशस्वरूपेण परमात्मना चेत्तवाविवादोस्ति तदा सत्यं वद गंगां कुरूंश्च मा गम इति। न च तत्र तज्जनितपापनिवृत्तये इत्यक्षराणि क्वाप्युपलभ्यन्तइति यदि पापनिवृत्तिकारकं गंगा वा कुरुक्षेत्रं स्यात्तदा पापस्याधिक्ये एव सर्वस्य प्रवृत्तिः स्यात्। यतस्सर्वे जना एवं जानीयुर्गंगाकुरुक्षेत्रे तु पापं हरिष्यतएव पुनः पापकरणे का चिन्तेति तस्मादिदं तत्र ज्ञेयम्—राजप्रकरणेऽस्य श्लोकस्य पाठोस्ति राज्ञां च दण्डदातृत्वाय परात्मना रचना कृतैवात। गंगातटे कुरुक्षेत्रे च किमपि दण्डदानस्थानं कारागृहादिकं सर्वेषामार्यराज्ञामेकमेव पुरासीद् यत्र गमनेन मनुना भयं सूचितमिति॥

भाषार्थः—इस श्लोक का अक्षरार्थ तो यह है कि न्यायाधीश साक्षी से कहता है कि जो (वैवस्वतः) निश्चय कर निवास के हेतु पृथिवी आदि वस्तुओं में निरन्तर व्याप्त है (यमः) सब को नियम में रखने वाला (देवः) प्रकाशक अन्तर्यामी ईश्वर तेरे हृदय में स्थित है उस सब के साक्षी ईश्वर के साथ यदि तेरा विवाद नहीं है अर्थात् तू उस के विरुद्ध बोलना नहीं चाहता तो आत्मविरोधी न होने से कुटिलगति को मत प्राप्त हो। अर्थात् आत्मा के अनुकूल चलने

वाले अच्छी गति को पाते हैं तथा (गाम्) पृथिवी के जन्म मरणादि दुःखों को मतप्राप्त हो अर्थात् आत्मा के अनुकूल बोलने वाले परमगति को प्राप्त होते हैं तथा (कुरून्) कल्पित-बनावटी, आत्मा से विरुद्ध साक्ष्य मत देवे क्योंकि आत्मा के अनुकूल बोलने वाले ही मिथ्याजाल से छूट सकते हैं। मुख्य आशय तो यह है। पर द्वितीय अर्थ यह भी हो सकता है कि (यमः) शान्तरूप (वैवस्वतः) यथावत् न्यायकारी (देवः) स्वयंप्रकाशस्वरूप जो तेरे हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित है उस परमात्मा के ज्ञान से विमुख असत्य बात तू मत कह अन्यथा इस के विरुद्ध आचरण से तुझ को गङ्गा और कुरुक्षेत्र जो दो स्थान हैं वहां जाना पड़ेगा तो अवश्य यह प्रतीत होता है कि यह श्लोक राजधर्म का है। इस से विदित है कि हमारे आर्यराजाओं का कारागृहादि दण्ड का एक विशेष स्थान कुरुक्षेत्र वा गङ्गा के समीप होगा वहां जाने से मनु महाराज ने भय दिखलाया है। शास्त्री जी के कथनानुसार " तज्जनितपापनिवृत्तये " ये अक्षर तो श्लोक में कहीं नहीं पाये जाते यदि शास्त्री जी का ही कहना मानलें तो बड़ा भारी अनर्थ यह होगा कि धर्मात्मा का लेश भी इस विश्व में न मिलेगा क्योंकि सब स्त्री पुरुष यह बात जानलेंगे कि गङ्गा और कुरुक्षेत्र तो पाप काटते हैं यह बात वेद में साक्षात् परमेश्वर ही ने जब कही है तो हम को पाप करने में क्या बुराई है ? अभी आनन्द भोगो और अन्त में सब पाप गङ्गा कुरुक्षेत्र में निवृत्त करो। इस कारण श्रुतिविरुद्ध अर्थ शास्त्री जी का ठीक नहीं और उक्त रीति से जो अर्थ हम ने किया है वह पण्डितजनों की परीक्षा पर निर्भर रखते हैं हमारा सत्य समझें तो ग्रहण करें असत्य हो तो त्याग करें क्योंकि किसी कवि का वाक्य है कि "धनञ्जये हाटकसम्परीक्षेति" अर्थात् खरे खोटे सुवर्ण की आग में परीक्षा हो सकती है॥

विचार का स्थान है कि पं० हरि० जी ने लिखा है कि तुम सत्य वाक्य कहते हो तो " पापप्रक्षालनाय " पाप धोये जाने के लिये गङ्गा और कुरुक्षेत्र को मत जावो। इस से कोई पूछे कि जो पद श्लोक में नहीं उस को कहां से लाये अर्थात् पाप धोने का अर्थ कहां से आया तो क्या उत्तर है ? यदि कहें कि इस की आकाङ्क्षा थी तो ठीक नहीं क्योंकि पाप धोये जाने का उपाय बता देना ही पाप कराने में हेतु होगा। जब मनुष्य ने जान लिया कि गङ्गादि

के स्नान से पाप छूट जायगे उस का उपाय बहुत सहज है फिर निश्शङ्क पाप कर सकता है। इस लिये ऐसी आकाङ्क्षा भी ठीक नहीं। और इनके लिखने से यह तो स्पष्ट सिद्ध होगया कि सत्य बोलने वाले के लिये गङ्गादि स्नान की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि सत्य ही सर्वोपरि धर्म है। यदि ऐसा है तो सत्य बोलने वाला कोई भी गङ्गा की अपेक्षा न रक्खे, केवल मिथ्यावादी गङ्गा स्नानादि किया करें॥

आगे लिखा है कि "नारद जी की उत्तम गाने की शक्ति से उत्पन्न हुआ जो राग उस से परमेश्वर स्वयमेव गङ्गाजलरूप प्रकट हुए हैं" विचारशील लोग ध्यान दें कि परमेश्वर गङ्गाजलरूप बनने से पहिले किस रूप में था?। क्या घृतादि के तुल्य था जो पिघल गया?। जल परमेश्वर है तो क्या जल पीने से परमेश्वर पीने में नहीं आया?। जल दुर्गन्धादि युक्त होता है तो क्या परमेश्वर दूषित भी होता है?। अर्थात् यह अत्यन्त तुच्छ बात परमेश्वर के विषय में लिखी है॥

और मनुस्मृति के तृतीय नवमादि अध्यायों में जो मरे पितृयों को पिण्डादि देने के निमित्त लेख है वह ऋषिकथित वा वेदानुकूल नहीं है इस का विशेष विवेचन मानवधर्ममीमांसा भाष्य में किया गया है॥

आगे "(तिलोऽसि) इस ब्राह्मण वाक्य के अर्थ में लिखते हैं कि हे तिल! चन्द्रमा तेरा देवता है और तू स्वर्ग का उत्पादक और विष्णु का रचा हुआ और जलों से मिश्रित है" बड़े आश्चर्य की बात है विष्णु का सनातन स्थान पौराणिक लोग स्वर्ग मानते हैं। जब विष्णु ने तिल को रचा और तिल ने स्वर्ग को रचा तो जब तक तिल ने स्वर्ग को नहीं बनाया था तब तक विष्णु कहां रहते थे?। और तिल ने स्वर्ग किस प्रकार बनाया यह नहीं जान पड़ता क्या तिल में ऐसा सामर्थ्य है? यदि है तो पं० हरि० जी ने भी तिलों द्वारा एक स्वर्ग अपने लिये क्यों न बनवा लिया?। क्या यह असम्भव नहीं कि तिल ने स्वर्ग बनाया अस्तु।

"(अत्र पितरो०) इस मन्त्र का अर्थ लिखा है कि हे पितृ लोगो! पिण्डों में प्रसन्न होइये और अपना भाग—हिस्सा पाकर बैलों के तुल्य बलवान् होइये" इन के इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पिण्डादि अन्न पितृ खाते हैं। यदि यह सत्य है तो पिण्ड धरने पश्चात् थोड़े काल में लुप्त क्यों नहीं हो जाते?

जिस से विश्वास हो जावे कि पितर अपना २ भाग खागये । और पिण्ड लुप्त नहीं होते तो क्या प्रमाण है कि पितर लोग पिण्ड खागये । क्या पितृ लोग बैल के तुल्य बली होकर लड़ेंगे ? । इत्यादि इन का अर्थ तुच्छ है और यही मुख्य आशय है कि अपने गुरुजन पितृ लोगों का शिष्य लोग बुला कर सत्कार करें और उन से कहें कि आप लोग उत्तम विद्वान् लोगों के मार्ग से आइये इस रमणीय स्थान में आनन्द पूर्वक ठहरिये योग्यतानुकूल अपने २ स्थान पर बैठिये और भोजन करके प्रसन्न हूजिये । स्मृतियों में पिण्डद अर्थात् पिण्ड देने वाला ऐसे विशेषण पुत्रादि के आते हैं परन्तु पिण्ड नाम ग्रास का जब सिद्ध होगया तो आशय यह है कि जिस के कई पुत्र हों और पिता की वर्त्तमान दशा में ही वे सब स्वत्व का विभाग कर पृथक् हुआ चाहैं तब जिस के पास पिता स्वयं रहना स्वीकार करे और जो पिता की सेवा शुश्रूषा अधिक करेगा उसी के समीप पिता भी रहना चाहेगा क्योंकि यही संसार की परिपाटी है । इस दशा में जो पिता की भोजनादि द्वारा प्रतिदिन सेवा शुश्रूषा करता है वही पिण्डद पुत्र कहाता है । इस प्रकार का अभिप्राय ठीक ही घट जाता है अर्थात् इस पिण्डद शब्द से मरों का श्राद्ध करना नहीं आता । श्राद्ध के विषय में मनुस्मृति के उपोद्घात में विशेष लिखा गया है जो चाहे वहां देख लेवे ॥

इति सद्धर्मदूषणोद्धारे चतुर्थपरिच्छेदसमीक्षणम् ॥

अब पञ्चम परिच्छेद के प्रारम्भ में उक्त प० जी ने एक पद्य लिखा है जिस के शिर पैर का कुछ भी पता नहीं यदि कोई महाशय बांच कर देखेंगे तो उन को सब पोल ज्ञात हो जायगी । इस परिच्छेद में दो बातें कही हैं—"एक तो साधन करने वाले पुरुष को मूर्त्तिपूजा अवश्य करनी चाहिये और सिद्ध अर्थात् विरक्त-निष्काम हो तो भी सर्वसाधारण को दिखाने के लिये मूर्त्तिपूजा करनी चाहिये । इस में गीता का प्रमाण है कि लोगों को दिखाने के लिये मैं कर्म करता हूं । इत्यादि" हम इस विषय में अधिक लिखना आवश्यक नहीं समझते क्योंकि सब मूर्त्तिपूजक इष्टसिद्धि के लिये मूर्त्तिपूजा करते हैं परन्तु क्यों इष्ट सिद्ध नहीं होता ? । प्रत्यक्ष में उलटा दुःखभोग विशेष कर हो रहा है । हां मूर्ख वा पुरानी लीक पीटने वाले सीधे साधे लोगों को भ्रमजाल में डाल कर अनेक पण्डा पुजारियों का अवश्य स्वार्थ बनता है यह तो वास्तव में इष्टसिद्धि है । इसी इष्टसिद्धि से प्रयोजन हो तो हम को स्वीकार है । पर

पाखण्डमतखण्डनकुठार का उत्तर ॥

(भाग ३ पृ० १९२ से आगे)

ये लिखते हैं कि स्वामी दया० जी ने ऋ० भू० पृ० २ पं० १२ में जो अत्यन्त प्रेमभक्ति से परमेश्वर को नमस्कार कर "मैं इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूं १। अमुक २ समय इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया २। सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिन का नाम स्वामी दयानन्दसरस्वती है उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है ३। ईश्वर की कृपा की सहायता से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान करता हूं ४।" क्या इन लेखों से लिखने वाला एक है वा चार ? इत्यादि ॥

उत्तर–इन लेखों का लिखने वाला एक है चार नहीं यह तुम्हारी भूल है जो किसी भाषा का पूर्ण ज्ञान नहीं रखते। तुम्हारी भाषा में ऐसी २ बड़ी अशुद्धि हैं जिन को छोटे २ बालक भी जान सकते हैं ॥

अज्ञःसर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥ नीतिशास्त्रे।

मूर्ख मनुष्य छोटे सरसों के बराबर भी दूसरे के छिद्रों को देखता है और अपने बड़े बिलवफल के बराबर छिद्रों को भी नहीं देखता यही मूर्ख का मूर्खपन है।

यह भाषा संस्कृत श्लोकों की है जैसी क्रिया जिस २ सम्बन्ध में वहां संस्कृत में लिखी हैं उसी क्रम से उन की भाषा लिखी गयी है। प्रथम श्लोक में मंगलाचरण पूर्वक आरम्भ की प्रतिज्ञा है जिस श्लोक में (भाष्यारम्भः कृतो मया) वाक्य है उस में आरम्भ का समय दिखाया है उस के साथ कर्त्ता तृतीयान्त है उस की भाषा "मैंने" की गयी। तृतीय स्वामी जी ने अपना नाम एक श्लोक में सार्थक दिखाया है अर्थात् इस अर्थ से जिस का अमुक नाम है उस का बनाया यह पुस्तक है। चौथे में भाष्य बनाने का प्रयोजन दिखाया उन सब के साथ कर्त्ता का सम्बन्ध है इस लिये सर्वनाम शब्द से कर्त्ता का प्रयोग चार वार आया है यह नियमानुसार है किन्तु भाषा व्याकरण के नियम से भी विरुद्ध नहीं है जैसे कोई मनुष्य कहे कि मैं सर्वनियन्ता परमात्मा को प्रणाम करके अमुक काम का प्रारम्भ करता हूं और अमुक तिथि वार मास संवत् में मैंने यह काम प्रार-

म्भ किया । जिस का अमुक प्रकार अमुक नाम है उस मैंने यह पुस्तक बनाया और इस २ प्रयोजन के लिये मैंने बनाया इस प्रकार की इबारत को कोई बुद्धिमान् विचारशील तो कदापि असम्बद्ध नहीं ठहरा सकता किन्तु अज्ञानी जो कुछ कहे सो थोड़ा है ॥

महन्त—वाह ? चक्रवर्त्ती राज्य प्राप्त होने की प्रार्थना तथा मोक्ष में स्त्री पुत्र का सुख मानना भी बुद्धि की विचित्रता है । इत्यादि ॥

उत्तर—बड़े आश्चर्य की बात है कि इन लोगों को मिथ्या लिखने वा कहने में थोड़ी भी लज्जा नहीं है देखो कैसा झूंठ लिखा है ! स्वामी जी महाराज की बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में यह लेख कहीं नहीं है कि जहां लिखा हो कि मोक्ष में स्त्री पुत्र का सुख होता है । पाठक लोग ध्यान दें और महन्त जी से उत्तर मांगे कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उक्त लेख दिखाओ । इन्होंने जाना होगा कि हमारे अनेक चेला चाटी जो हमारे मत को पोच जान कर आर्य हो जाते हैं वे रुक जायंगे पुस्तक में कौन मिलाकर देखेगा कि वहां ऐसा लिखा है वा नहीं हमारा प्रमाण मान लेंगे । भला ऐसा कभी हो सकता है कि कोई पुस्तक न देखे । स्त्री पुत्रादि की प्रार्थना स्वामी जी ने स्वार्थ नहीं की है किन्तु जिस मन्त्र का अर्थ लिखा है जो कोई उस को पढ़े उसी की ओर से वह प्रार्थना समझी जायगी । और न स्वामी जी ने अपने लिये चक्रवर्त्तीराज्य मांगा किन्तु वह लेख सर्वसाधारण की ओर से है अथवा किसी सभा समाज में वह मन्त्र पढ़ाजावे तो उस सभा समाज की ओर से प्रार्थना समझी जायगी । जो राज्य का अभिलाषी है वह चक्रवर्त्ति राज्य की प्रार्थना कर सकता है । जिन को इतना बोध नहीं कि यह अमुक मन्त्र की भाषा है और सर्वसाधारण की ओर से परमेश्वर की प्रार्थना करने में सम्बन्ध रखती है वे लोग खण्डन करने को उद्यत हुए तो भारत वर्ष क्यों न डूबेगा ? ।

अब विचारिये स्वामी जी महाराज की ओर से यह (सब विघ्न हम से दूर रहें जिस से वेदभाष्य करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो इत्यादि) प्रार्थना अवश्य है । क्योंकि यह उन के कर्त्तव्य से सम्बन्ध रखती है । इस पर महन्त जी कहते हैं कि—

इस प्रार्थना को ईश्वर ने स्वीकार न किया क्योंकि दयानन्द जी को घोर रोग होने के कारण शरीर छोड़ने पड़ा इत्यादि—

उत्तर—यदि कोई पूछे कि आप जितनी चाहना वा प्रार्थना चित्त में रखते हो क्या वे सब पूरी हो जाती हैं? वा हो गई हैं। कोई भिक्षुक आदि किसी से कुछ मांगे और दाता न दे तो मांगने वाले का दोष नहीं किन्तु वैसा उस के लिये करना न करना वा देना न देना दाता की इच्छा पर निर्भर है हां! अयोग्य प्रार्थना करे तो अवश्य याचक का दोष समझा जायगा। अर्थात् इस में स्वामी जी महाराज का कोई दोष नहीं उन की प्रार्थना भी अत्यन्त योग्य है अर्थात् परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना सब को करनी चाहिये इस की सूचना वा शिक्षा भी निकलती है। और स्वामी जी ने कहीं यह भी नहीं लिखा कि प्रार्थना करने मात्र से वैसा ही प्रार्थितानुकूल कार्य सिद्ध हो जाता है वा जिस से प्रार्थना की जाती है वह अवश्य वैसा फल देता है और यह भी कहीं नहीं लिखा कि स्वामी वैसा फल न देवे वा किसी कारण से किसी समय की प्रार्थना किसी पुरुष की निष्फल वा विपरीत हो जावे तो फिर किसी को प्रार्थना ही न करनी चाहिये। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि अच्छे काम जितने किये जावें वे सब सफल ही हो जावें और सब कार्य सफल न हों। वा किन्हीं कार्यों में बड़े २ विघ्न पड़ जावें तो वैसे काम कोई न करे अर्थात् एक घर वा कुआ बनाया वह बीच ही में गिरजावें तो फिर घर वा कुआ न बनावें यह नहीं हो सकता। अच्छे कामों के विरोधी बुरे कर्म सभी प्रबल विघ्नकारी होते हैं। स्वामी जी के काम में भी अनेक असुर विघ्नकारी थे उन्हों ने विघ्न किया। अर्थात् अभी भारत वर्ष की कुछ और दुर्दशा होनी शेष है इसी लिये विघ्नकर्त्ताओं को वैसा अवसर मिला। असुर पक्ष पहिले से बलवान् चला आया है। अब तो असुर पक्ष अत्यन्त ही प्रबल है अर्थात् आसुरी शक्ति मनुष्यों में अधिकांश प्रवृत्त है॥

स्वा०—सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें॥

महन्त—यह वार्त्ता असम्भव है क्योंकि शीतकाल के अनुकूल पदार्थ जैसे अग्नि ऊर्णवस्त्र उष्णगुणयुक्त भोजनादि हैं वह ग्रीष्म ऋतु में प्रतिकूल हो जाते हैं इसी प्रकार ग्रीष्म के शीत में इत्यादि॥

उत्तर—अहो बुद्धिमत्ता!!! बहुत अच्छी युक्ति निकाली इस से जान पड़ता है कि महन्त जी कुछ न्याय [मन्तक] वा पदार्थ विद्या भी जानते हैं। यह कुछ बहुत कठिन बात न थी जिस में शङ्का होती वा बुद्धि न पहुंचती। यह नि-

यम है कि संसार में तो सभी वस्तु रहते हैं पर मनुष्य के पास इतनी शक्ति हो कि वह अनुकूल प्रतिकूल दोनों प्रकार के पदार्थों का उपार्जन कर सकता है तो वह अनुकूलों से अवश्य उपयोग लेगा और प्रतिकूलों को दूर रक्खे गा। जैसे उष्णकाल ग्रीष्म ऋतु में जिस को सामर्थ्य है वह अवश्य गरमी और सूर्य वा अग्नि के तापादि से बचेगा ज्येष्ठ मास के घाम में बाहर न निकलेगा, किन्तु आवश्यक काम भृत्यों से लेगा और शीत पदार्थ अर्थात् छिड़काव, खश की टट्टी, पंखा आदि चलवावे गा वा किसी शीत देश में जाकर निवास करेगा उस के लिये सब अनुकूल ही रहे प्रतिकूल कोई न हुआ अर्थात् प्रतिकूल पदार्थ संसार में भले ही बने रहो जब उस को प्रतिकूलों से दुःख विशेष न हुआ तो उस के लिये जानो कोई प्रतिकूल न रहा अब यह भी विचारिये कि स्वामी जी का भी यह आशय कदापि नहीं है और न हो सकता है कि किसी के प्रतिकूल कोई पदार्थ संसार में न रहे अर्थात् अभिप्राय यह है कि मनुष्य को ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारे उपयोग में आने वाले पदार्थ प्रतिकूल न हों किन्तु अनुकूल रहें। यदि कोई कहे कि संसार में ऐसी प्रार्थना सभी करें तो क्या सब के अनुकूल सब पदार्थ हो सकते हैं? तो उत्तर यह है कि प्रथम तो संसार में सब मनुष्य सच्चित्त से ठीक २ प्रार्थना करें यह कदापि सम्भव नहीं। और जितने ठीक २ प्रार्थना भी करें और उन के संचित कर्म वैसे न हों वा वे प्रार्थना के अनुसार उद्योग नहीं करते तो उन के अनुकूल सब पदार्थ नहीं हो सकते। अभिप्राय यह है कि प्रार्थना भी एक प्रकार का उद्योग है जो मनुष्य सत्य चित्त से प्रार्थना करेगा वह प्रतिक्षण अनुकूल प्रतिकूल के विचार में भी रहेगा तो यह भी जान सकता है कि क्या अनुकूल और प्रतिकूल है?। अर्थात् प्रथम यह ज्ञान होना ही कठिन है संसार में क्या अनुकूल और क्या प्रतिकूल है। प्रायः मनुष्य अविद्या में फंस कर अनुकूल को प्रतिकूल और प्रतिकूल को अनुकूल मान बैठता है इसी से उस को दुःख की गठरी उठानी पड़ती है। सारांश यह है कि मनुष्य दुःखों से बचने के लिये अनुकूल प्रतिकूल के तत्त्व को जान कर प्रतिकूल से बचने और अनुकूल वस्तुओं की प्राप्ति का प्रार्थनादि उपाय सदा करता रहे यही परम कर्त्तव्य है यही स्वामी जी महाराज का अभिप्राय है ॥

महन्त जी—भयङ्कर पशु अपना स्वभाव क्यों कर छोड़ सकते हैं? इत्यादि ॥

उत्तर—स्वामी जी महाराज ने ऋ० भूमिका के प्रार्थना प्रकरण में वेद का यह मंत्र लिखा है—

शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥

इस का अर्थ भी स्पष्ट है कि प्रजाओं से हमारे लिये कल्याण हो और पशुओं से भय न हो ऐसी प्रार्थना है । हम अन्य विचार तो लिखेंगे ही पर महन्त जी से यह प्रश्न है कि आप यदि वेद मतानुयायी हैं तो अवश्य वेद को मानेंगे और इस का अर्थ भी अवश्य करें वा मानेंगे और सर्वसम्मत मूल अक्षरार्थ यही है जो ऊपर लिखा गया तो जो दोष अन्य के पक्ष में देते थे वह दोष स्वयं महन्त जी पर आगया । ऐसा दोष दूसरे के पक्ष में कदापि न देना चाहिये जिस से वही दोष अपने पर भी आता हो । यदि कहें कि हम वेद को नहीं मानते तो नास्तिक हुए और महन्त जी का पक्ष भी ज्ञात होना चाहिये निष्पक्ष कोई मनुष्य हो नहीं सकता यदि वैतण्डिक बनें तो वितंडा करना ही उन का पक्ष होगा । उस वितंडा में ही दूषण दिया जायगा और महन्त जी को सिद्ध करने पड़ेगा ॥

अब इस का प्रयोजन सुनिये:—मैं प्रथम ही लिख चुका हूं कि प्रतिकूल वस्तुओं का संसार से अभाव कदापि नहीं हो सकता वैसे ही भयंकर वा हिंसक तथा विषधारी पशु पक्षी आदि अपना स्वभाव कदापि नहीं छोड़ सकते और न उन का स्वभाव छूटने की प्रार्थना की गयी न कोई करता वा कर सकता है परन्तु ऐसे यत्न वा उपाय हो सकते हैं कि जिन से वे पशुआदि हम को अर्थात् जो ईश्वरभक्त हैं उन को दुःख न दे सकें क्या जब परमेश्वर सर्वव्यापक है तब वह जिस पर प्रसन्न हो वा जिस के कर्म अच्छे देखे उस को भय वा हिंसा से नहीं बचा सकता? जिस को इतना भी विश्वास नहीं वह पूरा नास्तिक है । यदि महन्त जी को इतना भी विश्वास नहीं तो वे किसी इष्टदेव को क्यों मानते होंगे देखो नीतिशास्त्र में लिखा है कि:—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ॥

अर्थात् दैव परमेश्वर वा अच्छा प्रारब्ध जिस की रक्षा करता है उस को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता और जब दैव मारता है तो कोई रक्षा भी नहीं कर सकता कितनी ही रक्षा की जाय तो भी वह नहीं बच सकता । अब क्या इस वचन को मिथ्या कहेंगे वा इन में भी यही दोष देंगे कि हिंसक जीव अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकते । इन वचनों का अभिप्राय यह नहीं है कि किसी का स्वाभाविक गुण छूट सकता है । वैसे तो नीति में यह भी लिखा है कि:—

अग्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्,
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते ।
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥ ७ ॥

अर्थः—जिस पुरुष के शरीर में सब संसार को प्रसन्न वा अपना मित्र बनाने वाला स्वभाव और परोपकारादि सर्वप्रिय धर्म विद्या सम्बन्धी श्रेष्ठ गुण प्रकट होते हैं उस के लिये अग्नि जल के तुल्य हो जाता अर्थात् अग्नि को वश में कर के सैकड़ों काम सिद्ध कर लेता और उस का दाह गुण उस को नहीं जला सकता। समुद्र उस के लिये नहर वा छोटे बम्बा के तुल्य हो जाता है समुद्र का जाना आना उस के लिये नहर के पार जाने के तुल्य अत्यन्त सुगम होता है डूबने का भय नहीं रहता। मेरु जो सब से बड़ा पर्वत है वह छोटी पत्थर की पटियाओं के तुल्य कम ऊंचा जान पड़ता है। और सिंह हरिण के तुल्य वश में हो जाता है अर्थात् सिंह को वह हरिण के तुल्य मार वा पकड़ सकता है। सर्प उस के लिये माला के तुल्य कण्ठ में ठहर सकता और काटकर उस को नहीं मार सकता क्योंकि उस का दैव सीधा है वा यों कहिये कि गुणी पुरुष ऐसे उपाय वा युक्ति करले सकता है जिस से सर्प न काट सके वा काटे भी तो मरे नहीं जैसे महादेव जी के कण्ठ में सांप पड़े रहते थे। और विष सम्बन्धी रस अमृत की तुल्य वर्षा करे अर्थात् विष भी अमृत हो जावे। जैसे अच्छे गुणी प्रियवद् पुरुष के लिये शत्रु भी मित्र बन जाते हैं अर्थात् उस को दुःख देने की चेष्टा नहीं करते॥

इस श्लोक का भी अभिप्राय यह नहीं है कि अग्नि आदि का स्वाभाविक गुण छूट जावे किन्तु प्रयोजन यही है कि जिस पुरुष पर उस के गुण कर्म स्वभावों के सुधरने से परमेश्वर प्रसन्न होता है उस को अग्नि आदि जो दाह गुण आदि से दुःख देने वाले पदार्थ हैं वे भी सुख देने वाले होते हैं। न्याय में लिखा है

पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति ॥

अर्थात् मनुष्य के अच्छे कर्मों को देख कर ईश्वर कृपालु होता अर्थात् गुणी उद्योगी परोपकारी धर्मात्मा पुरुष पर परमेश्वर प्रसन्न होता है और उस के लिये दुःख हेतु पदार्थ भी सुख देने वाले हो जाते हैं। यह बात आज कल अंगरेज लोगो में किसी प्रकार घटती है अर्थात् उन का दैव सीधा है उन में प्रायः गुण

कर्म स्वभाव अच्छे हैं इसी लिये ईश्वर भी उन के ऊपर कृपा रखता है तभी तो अग्नि जल के तुल्य हो रहा है, अगाध समुद्र के पार जाना आना अत्यन्त सुगम हो गया है समुद्र में तार लगे हैं इत्यादि उक्त श्लोक की बातें कुछ २ अंगरेजों में अवश्य घट सकती हैं। अनेक गुणों को संचित करने वाली प्रार्थना एक बड़ा गुण है जो सत्य चित्त से परमेश्वर की प्रार्थना करता है उस में अन्य भी अच्छे गुण अवश्य आजाते हैं। इसलिये पशुआदि से भय न होने की प्रार्थना करना अत्यन्त उचित है॥

महन्त-तब तो हवन के स्थान में फुलवाड़ी ही लगा देनी अच्छी है जिस से नेत्रों को भी सुख तथा और कोई लाभ प्राप्त हो सकते हैं॥

उत्तर-स्वामी जी ने ऋ० भूमिका में लिखा है पुष्पादि का सुगन्ध भी दुर्गन्ध को निवारण करता है। इसी पर महन्त जी का उक्त तर्क है कि दुर्गन्ध निवारण के लिये ही जब होम का प्रतिपादन है तो वह प्रयोजन फुलवाड़ी से ही निकल जावे गा। सो महन्त जी का यह तर्क अत्यन्त पोच है स्वामी जी ने जब भी शब्द पढ़ा है तो उस से स्पष्ट है अन्य प्रकार का अर्थात् होम सम्बन्धी सुगन्ध मुख्य कर दुर्गन्ध का निवारण करता और पुष्पादि का सुगन्ध भी करता है। इस में सन्देह भी नहीं यही आशय स्वामी जी ने अपने पुस्तकों में प्रायः लिखा है। जब उन्हों ने स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि होम सम्बन्धी सुगन्ध इन २ कारणों से सर्वोपरि उपकारी है तो तर्क करने का अवकाश नहीं यदि तर्क किया जाय तो उन कारणों को काटना चाहिये कि जिन से होम की सर्वोपरि उत्तमता ठहराई गयी है। मैं यदि यहां हवन का विशेष व्याख्यान करूं तो पुनरुक्त होगा॥

महन्त-क्या दयानन्द जी ब्रह्मचर्यादि उत्तम गुणयुक्त नहीं थे क्योंकि ४०० वर्ष तो कहां रही वह ७० वर्ष भी न जी सके इत्यादि॥

सम्पादक-स्वामी जी महाराज ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) यह मन्त्र लिखा है और इस का अर्थ भी यथोचित किया है कि हे परमेश्वर आप की कृपा से हमारे इन्द्रियों की तिगुणी वा चौगुणी आयु हो अर्थात् हमारा शरीर तीन सौ वा चार सौ वर्ष तक बना रहे इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है अर्थात् ४०० वर्ष तक भी सुख पूर्वक जी सकता है। यह स्वामी जी का लेख है इसी पर महन्त जी ने उक्त तर्क किया है। पाठक लोग ध्यान रक्खें कि मैं प्रथम भी लिख चुका हूं कि देवासुर संग्राम सदा से चला आता है यावत् शक्य असुर लोग देव कार्यों में विघ्न करते रहे हैं और करते हैं। क्या शङ्कर स्वामी किसी

मृत्यु के कारण मरे थे ? । किन्तु उन को भी विरोधी लोगों ने विषादि प्रयोग द्वारा ३२ वर्ष की अवस्था में समाप्त कर दिया इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज को भी समाप्त किया ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियम जिस में हों वह शस्त्रों से न कटे अग्नि में न जले जल में न डूबे उस को विष न लगे यह नहीं हो सकता किन्तु ब्रह्मचर्यादि नियमों के ठीक२ रहने से सहसा रोग नहीं दबा सकते जैसे हलका तृण थोड़े वायु से उड़ जाता है वैसे साधारण रोगों से वह नहीं उड़ता वा जैसे निर्बल शस्यादि पर तुषार पड़ने से वह मारी जाती है और बलवान् वृक्षादि पर तुषार की दाल नहीं गलती वैसे जिस में ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियम ठीक २ हैं वह रोगों से दब कर नहीं मरता । भीष्म पितामह जी पूर्ण बालब्रह्मचारी थे यह महाभारत के इतिहास से प्रसिद्ध है पर युद्ध में शस्त्रों से मारे ही गये । क्या उत्तम कामों में विघ्न होते नहीं किन्तु नीतिज्ञों का सिद्धान्त है कि (श्रेयांसि बहुविघ्नानि) सर्वोत्तम कामों में बहुत विघ्न होते हैं तो यह आवश्यक हुआ कि जहां यह लिखा गया है (सर्वोत्तम ब्रह्मचर्यादि नियमों से तिगुनी चौगुनी अवस्था हो सकती है) वहां यह समझ लिया जाय कि यदि शरीर का नाशक कोई प्रबल विघ्न खड़ा न हो । यदि कोई कहे कि यह लिखा क्यों नहीं गया तो उत्तर यह है कि जब कोई वस्त्रादि मूल्य दे कर लेता है तब कहते हैं कि यह एक वर्ष चलेगा पर यदि उसी दिन वह वस्त्र अग्नि में जल जावे तो एक दिन भी न चले इस के कहने की आवश्यकता नहीं इसी प्रकार यहां भी जानो । इस से स्वामी जी की अवस्था पूरी वा अधिक न चलने का उत्तर होगया ॥

अब (त्र्यायुषम्०) के अर्थ का विचार शेष रहा । इस पर महन्त जी का कथन है कि इस मन्त्र में ४०० वर्ष न जानें किस पद का अर्थ लिख मारा । अब देखना चाहिये कि महन्त जी की योग्यता की परीक्षा हो चुकी । मुझे अनुमान होता है कि महन्त जी के लिये काला अक्षर भैंस बराबर अवश्य होगा । यह पुस्तक किसी विद्यार्थी को दश पांच देकर अपने नाम से बनवा लिया है उस को इतना बोध नहीं होगा कि पद का अर्थ क्या होता कैसे होता और पद किस को कहते हैं । यदि यह बोध होता तो ऐसा कदापि नहीं लिखता यह केवल अज्ञान है स्वामी जी ने पदार्थ जो कुछ था वह लिख कर जब भावार्थ में (इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है) इत्यादि लेख अभिप्रायमात्रपरक लिखा है । जहां पदों का अर्थ लिखा गया वहां चारसौ वर्ष नहीं लिखे अब यह भी विचारिये कि जब (त्र्यायुषम्) में त्रिशब्द तीन का वाचक पढ़ा है जिस से तिगुणा अर्थ होता है और यही पद मन्त्र में चार वार फिर२ पढ़ा गया जिस से चौगुणे तक आयु होने का अनुमान

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

भाग ४ | संवत् १९४८ | अङ्क १२

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह ।
ब्रह्मा॑ मा तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे ॥

महामोहविद्रावण का उत्तर भा० ४ अं० ४ पृ० ५२ से आगे॥

वेद मन्त्र के पदपाठ में भी घटता है इसलिये वेद के पदों को भी लौकिक शब्द मानते हैं क्योंकि पदपाठ भी व्याख्यानरूप है जो २ व्याख्यानरूप हैं वह सब वेद नहीं है । "पदच्छेदः, पदार्थोक्तिः" इत्यादि में पदच्छेद भी व्याख्यान है और व्याख्यान स्वयं मूल नहीं बन सकता । ब्राह्मणपुस्तकों के वेद न होने में यह भी कारण है । इस लौकिक वैदिक शब्दों के भेद दिखाने के प्रसङ्ग में कैयट ने स्पष्ट लिखा है—महाभाष्य पस्पशाह्निक के आरम्भ में—

तत्र लोके पदानुपूर्वीनियमाभावात्पदान्येव दर्शयति गौरश्वइति । वेदे त्वानुपूर्वीनियमाद्वाक्यान्युदाहरति शन्नइति ॥

इस का आशय हमारे लेख के अनुकूल है कि वेद उसी का नाम है जिस के पद वाक्य छन्दोरूप से पूर्वापर मिले हुए चले आते हैं । और लोक के शब्दों का क्रम कार्यों के शीघ्र २ बनने बिगड़ने से लौट पौट होता रहता है । तात्पर्य यह कि वेद के शब्द वाक्यरूप और लोक के शब्द पदरूप कहाते हैं ॥

इन महामोहविद्रावण कर्त्ता ने अन्त्य में जो बहुत से पशु पक्षियों के नाम ऐसे लिखे हैं कि जहां दो चार शब्दों से काम निकल सकता था उस के लिये सैकड़ों शब्द लिखे हैं क्या इस का पत्रे पूरे करने पर तात्पर्य नहीं है ? । सो

यह ठीक नहीं इस का उत्तर पूर्व आ चुका कि पशु पक्षी और अश्वादि सभी के नाम वेद में हैं थोड़ा संस्कृत जानने वाले भी इन शब्दों को वेद के मन्त्रों से निकाल सकते हैं फिर यदि महाभाष्यकार का अभिप्राय यह होता कि गौ आदि शब्द वेद के नहीं हैं तो यह भी हो सकता था कि अग्नि आदि शब्द लोक के नहीं हैं परन्तु ये दोनों बातें प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरुद्ध हैं। और जिस अंश में प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है वहां अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती। सो गौ आदि के नाम वेद में प्रत्यक्ष पहिले दिखा दिये और अग्नि आदि के नाम भी लोक व्यवहार में प्रायः आते ही हैं ॥

यच्च "द्वितीया ब्राह्मणे" १ अ० २ पा० ३ "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" २ अ० २ पा० ३ "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" ३ अ० ४ पा० ३ इत्यष्टाध्यायीसूत्राणि। अत्रापि पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादितम्। तद्यथा पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति। अतएवैतेषां पुराणेतिहाससञ्ज्ञा कृतास्ति। यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसञ्ज्ञाभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीति छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्। द्वितीया ब्राह्मणेति ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात्। अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसञ्ज्ञास्तीति ॥ इति,

तदिदमनाकलितव्याकरणतत्त्वस्य तस्यात्यन्तमतत्त्वार्थाभिधानम्। तथाहि। "द्वितीया ब्राह्मणे" ।२।३।६। ब्राह्मणविषये प्रयोगे व्यवहृपणिसमानार्थस्य दीव्यतेः कर्म्मणि द्वितीया विभक्तिर्भवति। "गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः" अत्र शतस्य दीव्यतीत्यादिवत् "दिवस्तदर्थस्य" २।३।५८। इति सूत्रेण गोरस्येति षष्ठीप्राप्तौ गामस्येति द्वितीया विधीयते। अत्र ब्राह्मणरूपवेदैकदेशे एव द्वितीयेष्टा नतु मन्त्रब्राह्मणात्मके श्रुतिच्छन्दआ-

आथनिगमवेदपदव्यपदेश्ये सर्वत्रेति युक्तमुत्तरसूत्रे "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" २ । ३ । ६२ । इति मन्त्रब्राह्मणरूपे छन्दोमात्रे विषये चतुर्थ्यर्थे षष्ठीविधानम् । "पुरुषमृगश्चन्द्रमसः" पुरुषमृगश्चन्द्रमसे" अत्र हि छन्दसीत्यभिधानेनाचार्यः सञ्जिघृक्षति मन्त्रब्राह्मणरूपं सकलमेव वेदमिति तदभिप्रयन्नेवोदाजहार "या खर्वेणं पिबति तस्यै खर्वो जायते । तिस्रो रात्रीरिति । तस्या इति प्राप्ते यां मलवद्वाससं सम्भवन्ति यस्ततो जायते सोभिशस्तो यामरण्ये तस्यै स्तेनो यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यप्रगल्भो या स्नाति तस्या अप्सुमारुको याभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्म्मा या प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी याङ्क्ते तस्यै काणो या दतो धावते तस्यै श्यावदन् या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी या कृणत्ति तस्यै क्लीबो या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुको या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते, अहल्यायै जारमनाय्यै तन्तुः" इति बहुना ब्राह्मणं भाष्यकारः । इति फलवैशिष्ट्यसत्त्वेन ब्राह्मणस्य छन्दोरूपत्वे व्याकरणभाष्यकर्ता संवादसद्भावाच्च प्रकृतसूत्रे छन्दोग्रहणवैयर्थ्यमभिदधानः कथं न "स्वच्छन्द" इति विज्ञैरभिज्ञेयः ॥

उक्त महामोहविद्रावण की भाषा–

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है कि [द्वितीया ब्राह्मणे] इत्यादि तीन सूत्रों में भी पाणिनि आचार्य ने वेद और ब्राह्मण का भेद के साथ निर्देश किया है कि जैसे पुराण प्रोक्त नाम प्राचीन ब्रह्मादि ऋषियों ने कहे ब्राह्मण और कल्पग्रन्थ वेद के व्याख्यान हैं । इसी कारण [पुराने बहुतकाल के बने होने से] इन की पुराण इतिहास संज्ञा की है । जो यहां (द्वितीया ब्राह्मणे) आदि सूत्र में छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा इष्ट होती तो (चतुर्थ्य०) सूत्र में छन्दः ग्रहण व्यर्थ हो जावे क्योंकि (द्वितीया ब्राह्मणे) सूत्र से ब्राह्मणग्रन्थ की

अनुवृत्ति आ जाती इस से जान पड़ता है कि ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं है। इस पर महामोहविद्रावणः—सो यह व्याकरण के तत्त्व को न जानने वाले छली साधु का मिथ्या कथन है (द्वितीया ब्रा०) ब्राह्मणविषयक प्रयोग में वि, अवपूर्वक हृ और पणधातु के समान अर्थ वाले दिवधातु के कर्म में द्वितीया विभक्ति हो। यहां (दिवस्तदर्थस्य) सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी उस के लिये द्वितीया का विधान किया है। यहां ब्राह्मणरूप वेद के एक भाग में द्वितीया इष्ट है किन्तु मन्त्रब्राह्मणरूप समुदाय वेद में नहीं कि जिस का श्रुति, छन्द, आम्नाय, निगम और वेद भी नाम है उस में द्वितीया करना इष्ट नहीं। और उत्तर सूत्र से मन्त्र ब्राह्मण दोनों में विभक्ति विधान इष्ट है इसी से (चतुर्थ्यर्थे०) मन्त्र ब्राह्मणरूप छन्दमात्र में षष्ठी का विधान किया है। यहां छन्दसि कहने से आचार्य की चाहना प्रकट होती है कि मन्त्र ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है और इसी अभिप्राय के अनुसार (या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते) इत्यादि ब्राह्मणग्रन्थों के उदाहरण महाभाष्यकार ने कहे हैं। इस कारण (चतुर्थ्यर्थे०) में छन्दः ग्रहण को व्यर्थ कहता हुआ दयानन्द स्वतन्त्र अर्थात् शास्त्रविरुद्ध कहने वाला क्यों नहीं ? ॥

अत्र बहुवाग्जालेन नास्ति प्रयोजनं किन्तु श्रीमता दयादिस्वामिना चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीति सूत्रे छन्दोग्रहणस्य यद्वैयर्थ्यं प्रदर्शितं तत्तु विपक्षिणामेव ब्राह्मणपुस्तकानां वेदत्वं मन्यमानानां मतेऽस्ति न तु स्वस्य मते। अर्थात् येषां मते ब्राह्मणानां वेदत्वं तैर्ब्राह्मणपदस्य वेदपर्यायत्वमपि वक्तव्यं यथास्माभिश्छन्दआदिपदानां वेदपर्यायत्वं प्रतिपाद्यते। ब्रह्मणा परमात्मना निर्मितानि ब्राह्मणानि। एवमर्थे क्रियमाणे ब्राह्मणपदस्य वेदत्वे सति परत्र चास्यानुवर्त्तनेन निर्वाहः सम्भवति पुनश्छन्दोग्रहणं व्यर्थत्वमापद्यते। यदि युष्माकं मते वेदस्य पर्यायवाचको ब्राह्मणशब्दो नास्ति तदा कथमुच्यते ब्राह्मणानां वेदत्वम्। अस्मन्मते च नास्ति दोषः—यतो वेदपर्यायो ब्राह्मणशब्दो नास्ति। ब्राह्मणो वेदस्य व्या-

ख्यानानि ब्राह्मणानि । यद्ययमर्थो युष्माभिरप्यूरीक्रियते तदा नास्ति ब्राह्मणेषु तकानां वेदत्वम् । तथासति छन्दोग्रहणस्य वैयर्थ्यमस्माभिर्नोच्यते । व्याख्यानानां च यदि मूलभावः स्यात् तदा-सायणमहीधरादिकृतयावद्वृत्तिभाष्यादीनां वेदत्वं प्राप्नोति तच्च युष्माभिरप्यङ्गीकर्त्तुमशक्यम् । यच्चोक्त द्वितीयाब्राह्मणे इति सूत्रेण ब्राह्मणानाञ्चि वेदैकदेशे द्वितीयेष्टा तदर्थं ब्राह्मणग्रहणं पृथक्कृतमिति । अत्र ब्राह्मणानां वेदैकदेशत्वमेव साध्यम् । इत्थ मग्निमीडे पुरोहितमिति मन्त्रः सूक्तं वापि ऋग्वेदस्यैकदेशोऽस्ति। तत्र छन्द आदिनामभिरुच्यमानान्यन्यकार्याण्यपि वेदस्य सर्वदेशेषु नोपलभ्यन्ते यत्रकुत्रचित्पदेषु तानि कार्याणि दृश्यन्ते तेषामेव सूक्तमन्त्रपदरूपैकदेशानां ग्रहणं पाणिनिना न कृतमतोऽनुमीयते द्वितीया ब्राह्मणइत्यत्रापि वेदैकदेशस्य ग्रहणं नास्ति किन्तु वेदाद्भिन्नानामेव ब्राह्मणानां ग्रहणम् । तस्माद्महामोहविद्रावणकर्त्तॄणामस्मिन् विषये कथनं निर्मूलं प्रतिभाति । अग्रे "या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते" इत्यादिब्राह्मणग्रन्थस्योदाहरणदानात् "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीत्यत्र" सूत्रे छन्दःपदेन मन्त्रब्राह्मणयोर्ग्रहणमिति साधितं तच्च नानुमानं सम्यगस्ति यतश्छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणेषु छन्दःकार्याणि कृतानि । छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति भाष्यकृत्प्रमाणवत् । यदि छन्दोवन्मत्वा क्रियमाणेन कार्येण छन्दस्त्वं ब्राह्मणानां मन्यते तर्हि सूत्राणामपि छन्दस्त्वमङ्गीकार्यं यत्र छन्दःप्रयुक्तकार्याणि दृश्यन्ते । बहूनि च वाक्यानि मूलादाकृष्य तथैव ब्राह्मणेषु धृतानि तेषु छन्दःकार्यं यथामन्त्रभागे दृश्यते तथैवानुमेयम् । तर्हि तत्र प्रयोगमात्रेण तेषां ब्रा-

ह्मणत्वमागतमपितु छन्दस्त्वमेव स्वीकार्यम् । तस्माद् ब्राह्मणव्याख्यानामुदाहरणेन छन्दःशब्दो ब्राह्मणग्राहको न भविष्यति ॥

भाषार्थः—इस व्याकरण के प्रसङ्ग में बहुत व्याख्यान बढ़ाने का कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि इस प्रकार के विवाद को सर्वसाधारण ग्राहकजन ठीक २ नहीं समझेंगे इस कारण इस का उत्तर अति संक्षेप से दिया जाता है । श्रीमद्दयानन्दसरस्वती स्वामी जी ने "चतुर्थ्यर्थे" सूत्र में छन्दोग्रहण की जो व्यर्थता दिखायी है सो तो ब्राह्मण पुस्तकों को वेद मानने वाले विपक्षियों के ही मत में है किन्तु अपने मत में नहीं अर्थात् जिन के मत में ब्राह्मण पुस्तकों की भी वेदसंज्ञा है उन को उचित है कि ब्राह्मणपद को भी वेद का पर्याय ठहरावें [यदि कहें कि वेद का पर्यायवाचक हम ब्राह्मणपद को नहीं मानते किन्तु वेद, श्रुति, निगम, आम्नाय आदि पद सामान्य कर मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के वाचक हैं और ब्राह्मण पद वेद का विशेष वाचक है । जैसे कि मनुष्य के पर्यायवाचक मानुष वा मनुज आदि पद हैं और स्त्री पुरुष ब्राह्मण क्षत्रियादि पद विशेष वाचक हैं वैसे ही ब्राह्मण पद भी वेद के एकदेश का नाम है । जैसे ब्राह्मणादि मनुष्य के विशेष वाचक होने पर भी मनुष्यत्व से रहित नहीं माने जाते क्योंकि सामान्य अपने सामान्यत्व के कारण विशेष में भी व्याप्त रहता है । अर्थात् ब्राह्मण विशेष नाम होने से सामान्य नाम मनुष्य नहीं रहा यह कोई नहीं कह सकता वैसे ही इन पुस्तकों का ब्राह्मण नाम होने पर भी वेद नाम नहीं छूट सकता । तो इस का उत्तर यह है कि जैसे मनुष्य और ब्राह्मणादि का सामान्य विशेष वाचक होना प्रसिद्ध है वैसे वेद शब्द का सामान्य और ब्राह्मण पद का विशेष वाचक होना प्रसिद्ध भी नहीं, न कोई ऐसा स्पष्ट प्रमाण ही मिलता है कि ब्राह्मण वेद का विशेष वाचक है । तथा व्याकरण के अनुसार ब्राह्मण पद जो पुस्तक विशेष का नाम है उस के दोही अर्थ हो सकते हैं—एक तो ब्रह्मनाम परमेश्वर के रचे वा बनाये होने से ब्राह्मण कहावें तो यह अर्थ मन्त्रभाग में भी घट सकता है अर्थात् ऐसा अर्थ करने पर वेद का विशेष वाचक ब्राह्मण पद कदापि नहीं ठहर सकता । किन्तु पर्यायवाचक ठहरे गा और जब तुम लोगों के मतानुसार पर्यायवाचक सिद्ध हो गया तो "द्वितीया ब्राह्मणे" सूत्र में से ब्राह्मण पद की अनुवृत्ति आजाने से "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" सूत्र में छन्दोग्रहण व्यर्थ तुम्हारे मत में हुआ । इस का समाधान

ब्राह्मणों को वेद मानने वाले तुम पौराणिक लोगों को करना चाहिये। और द्वितीय ब्रह्म नाम वेद के व्याख्यान होने से ब्राह्मण कहाये इस अर्थ से ब्राह्मणों का वेद होना खण्डित हो जाता है क्योंकि व्याख्यान का नाम वेद हो तो निरुक्त निघण्टु तथा सायण महीधरादि के भाष्य भी वेद माने जावें इस प्रकार अतिव्याप्ति अर्थात् अनवस्था दोष आवे गा] कि जैसे हम लोग छन्द आदि पदों को वेद का पर्यायवाचक ठहराते हैं। और जो उक्त प्रकार तुम लोगों के मत में ब्राह्मणशब्द वेद का पर्यायवाचक नहीं है तो क्यों कहते हो कि ब्राह्मण पुस्तक वेद हैं और हमारे मत में यह दोष नहीं है क्योंकि हम वेद का पर्यायवाचक ब्राह्मणशब्द को नहीं मानते किन्तु ब्रह्म नाम वेद के व्याख्यान ब्राह्मण हैं यह हमारा पक्ष वा सिद्धान्त है। यदि इस अर्थ को तुम लोग भी स्वीकार करते हो तो ब्राह्मण पुस्तकों का वेद होना ठीक नहीं और ऐसा होने पर "चतुर्थ्यर्थे०" सूत्र में छन्दोग्रहण की व्यर्थता भी हम लोग नहीं ठहराते। और यह कभी हो नहीं सकता कि व्याख्यान भी मूल माने जावें यदि ऐसा हो तो सायण महीधरादि के बनाये वृत्ति भाष्यादि सभी वेद हों सो तो तुम भी न मान सकोगे॥

और जो कहा कि "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र से ब्राह्मण नामक वेद के एकदेश में द्वितीया विभक्ति इष्ट है उस के लिये ब्राह्मण ग्रहण पृथक् किया गया तो यहां ब्राह्मणों का एकदेश वाचक होना ही साध्य है। यदि ब्राह्मण वेद के एकदेश का नाम है तो वैसे "अग्निमीळे पुरोहितम्" यह मन्त्र वा सूक्त वा पद रूप एक देशों का ग्रहण पाणिनि जी ने नहीं किया इस से अनुमान होता है कि "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र में भी वेद के एकदेश का ग्रहण नहीं है किन्तु वेद से भिन्न ही ब्राह्मणों का ग्रहण है। इस से महामोहविद्रावण बनाने वालों का इस विषय में निर्मूल कथन प्रतीत होता है॥

आगे (या खर्वे०) इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थों के उदाहरण देने से (चतुर्थ्यर्थे०) सूत्र में छन्दःपद से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण सिद्ध किया है सो यह अनुमान ठीक नहीं क्योंकि वेद के तुल्य मान कर ब्राह्मणों में वेद सम्बन्धी कार्य किये गये वा उदाहरण दिये गये हैं कि जैसे महाभाष्यकार ने वेद के तुल्य पाणिनि सूत्रों को मानना लिखा अर्थात् पाणिनि सूत्रों को वेद के तुल्य मान कर वैसे काम किये गये हैं जो वेद में होते हैं। यदि वेद के तुल्य मान कर किये गये कार्य से ब्राह्मणों का वेद होना मानते हो तो सूत्रों को भी वेद मानो कि

जिन में वेद सम्बन्धी आदेशादि काम दीखते हों । और बहुत से वाक्य ज्यों के त्यों वेद से लेकर ब्राह्मणों में धरे हैं उन में वेद का कार्य जैसे मन्त्रभाग में दीखता है वैसा ही अनुमान करना चाहिये क्योंकि प्रयोग करने मात्र से वे वाक्य ब्राह्मण पु० के नहीं हो सकते किन्तु उन में छन्दःपन ही मानना योग्य है। इस से ब्राह्मण वाक्यों के उदाहरण "चतुर्थ्यर्थे०" सूत्र पर देने से छन्दः शब्द से ब्राह्मण पुस्तकों का ग्रहण नहीं होगा ॥

अन्यथा तु "मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्" ।३।२। ७१ । "अवे यजः" । ३ । २ । ७२ । "विजुपे छन्दसि" । ३ । २ । ७३ । इत्येवं क्रमिकसूत्रपाठे चरमे छन्दसीत्युक्त्या मन्त्रभागेपि छन्दःपदव्यपदेश्यत्वं न सिद्ध्येत् । यथाहि । "ब्राह्मणे" इत्यभिधाय "छन्दसी" त्यभिहितवतः पाणिनेर्ब्राह्मणं न छन्दः पदव्यपदेश्यत्वेनाभिमतमित्युत्प्रेक्षसे तथैवेहापि पूर्वसूत्रे "मन्त्रे" इत्यभिधाय "विजुपेच्छन्दसि" इति कथयतः पाणिनेर्मन्त्रोपि छन्दःपदव्यपदेश्यत्वेनाऽनभिमत इति वक्तव्यं स्यादिति महदनिष्टं ब्राह्मणविद्विषस्तवापि। किञ्च "अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि" । ८ । २ । ७० । इति पाणिनिश्छन्दःपदमुपादाय "भुवश्च महाव्याहृतेः" । ८ । २ । ७१ । इति सूत्रेण वैकल्पिकं रुभावमनुशास्ति पुनरुत्तरसूत्रे, इति महाव्याहृतेरपिच्छन्दोभावच्युतिरावश्यकी स्यात् । नहि "ब्राह्मणे" इत्युपादाय "छन्दसी" त्युक्तिरेव ब्राह्मणानामच्छन्दोभावसाधिका, ननु "छन्दसी" त्यभिधाय व्याहृतेर्विशिष्य व्याहरणं व्याहृतेश्छन्दोभावप्रणाशकं न स्यादिति पाणिपिधानं तस्मादाचार्यः प्रयोगसाधुभावाप्रसङ्गातिप्रसङ्गनिविवारयिषया क्वचित् सामान्यं "छन्दसी" त्युपादाय विशेषं "महाव्याहृतेः" इति वक्ति । क्वचित्तु, विशेषं "ब्राह्मणे" "मन्त्रे" इति वोपादाय सामान्यं "छन्दसी" ति, तस्मात् ॥

ऋग्वेदस्थ विवाहविषयक सूक्त का विचार ॥

॥ श्री कुमार ज्वालाप्रसाद कृत ॥

ऋग्वेदसंहिता के आठवें अष्टक, १० वें मण्डल, १२ वें अध्याय का १८३ वाँ सूक्त यह हैः—

अपश्यन्त्वा मनसा चेकितानं तपसोजातं तपसो विभूतम् ।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥१॥

अर्थ—हे वर ! (चेकितानम्) ज्ञानयुक्त (तपसः, जातम्) ब्रह्मचर्य्यरूपी तप के द्वारा पुनरुत्पन्न अर्थात् द्विजत्व को प्राप्त (तपसः, विभूतम्) ब्रह्मचर्य्य तपद्वारा प्रख्यात (त्वाम्) तुझ को (मनसा) अपने मन से (अपश्यम्) मैंने देखा (पुत्रकाम !) हे पुत्र की इच्छा करने वाले वर ! (इह) इस लोक में (प्रजाम्) सन्तान, और (इह) इस लोक में (रयिम्) धन को (रराणः) रमण करता हुआ (प्रजया, प्रजायस्व) प्रजनन द्वारा पुत्रादिरूप से तू उत्पन्न हो अर्थात् तू सन्तान की उत्पत्ति कर ॥ १ ॥

अपश्यन्त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनूऋत्व्ये नाधमानाम् ।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥२॥

अर्थ—हे वधू ! (दीध्यानाम्) सौन्दर्य्य से दीप्यमान, (स्वायां, तनू) अपने शरीर में (ऋत्व्ये) ऋतुकाल में होने वाले स्त्री पुरुष सम्बन्धी कर्म निमित्त भूत होने पर (नाधमानाम्) स्वामी की इच्छा करने वाली, (त्वाम्) तुझ को (मनसा) अपने मन से (अपश्यम्) मैंने देखा (पुत्रकामे !) हे पुत्र की इच्छा करने वाली वधू ! (माम्, उप) मुझे विवाहद्वारा प्राप्त होकर (उच्चा, युवतिः) अत्यन्त तरुणावस्था को प्राप्त हुई (बभूयाः) हो और (प्रजया, प्रजायस्व) प्रजनन द्वारा सन्तान को जन ॥ २ ॥

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः ।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥३॥

अर्थ—ईश्वर उपदेश करता है (अहम्) मैं (ओषधीषु) वनस्पतियों में फल, फूल आदि उत्पन्न करने के लिये (गर्भं, अदधाम्) गर्भ को स्थापन करता

हूं (अहम्) मैं (विश्वेषु, भुवनेषु अन्तः) और सब भुवनों में गर्भस्थापन करता हूं (अहम्) मैं (पृथिव्याम्) पृथिवी में (प्रजाः, अजनयम्) प्रजागणों को उत्पन्न करता हूं (जनिभ्यः) मनुष्य जातीय स्त्रियों और (अपरीषु). अन्यवर्गीय नारियों में (पुत्रान्) सन्तानों को उत्पन्न करता हूं ॥ ३ ॥

इन तीनों मन्त्रों के अर्थों पर विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि इन में अत्युत्तम उपदेश हैं यद्यपि मनुष्य का जन्म अन्य पशुओं के समान गर्भ विमोचन के समय से होता है। पर मनुष्य का जन्म उसी समय से समझना चाहिये जब वह ब्रह्मचर्य्य समाप्त करके पूर्णविद्वान् हो और अपनी विद्याद्वारा. प्रख्यात हो कर द्विज संज्ञा को पावे, युवतियों को उचित है कि कृतब्रह्मचर्य्य और ज्ञानवान् अपना मनमाना वर ढूंढें, और सन्तान उत्पत्ति करने के अर्थ विवाह करें; युवा पुरुषों को भी उचित है कि ऋतुकाल को प्राप्त सौन्दर्य्यवती मनमानी युवतियों को ढूंढ कर विवाह करें, अर्थात् स्त्री पुरुष दोनों तरुण और विद्या तथा सौन्दर्य्य से सम्पन्न हों और परस्पर एक दूसरे को यथावत् देख भाल कर यथेच्छ प्रीति पूर्वक विवाह हो, विवाह का मुख्य उद्देश्य ऋतुकाल में गर्भाधान द्वारा सन्तान का उत्पन्न करना है; विवाहित स्त्री पुरुषों को भी मर्यादा से अधिक इतना सम्भोग न करना चाहिये कि जिस से दोनों बलहीन होकर शीघ्रतर वृद्ध हो जावें—परन्तु मनुष्य को यह निश्चय करके कि स्त्री पुरुष के संयोग से ही प्रजा की उत्पत्ति और सृष्टि की उन्नति होती है नास्तिक भी न बन जाना चाहिये क्योंकि मनुष्य, पशु, ओषधि आदि सब की उत्पत्ति का मुख्य हेतु एक ईश्वर ही है जिस के नियमों के अनुसार सन्तति क्रम चलता है॥

अन्त में हम यह भी कहना चाहते हैं कि इस वेदोक्त विवाह परिपाटी पर विचार करने से हमारे आर्य्यभाइओं को निश्चय होगा कि आज कल जो विवाह की परिपाटी इस देश में प्रचलित है और जिस के द्वारा बाल्यावस्था ही में लड़का लड़किओं का विवाह नाई या बारिओं की परीक्षा के भरोसे पर होता है वह सर्वथा वेदविरुद्ध और महादुःखदायक और देश की अवनति का मुख्य कारण है ॥

करवी,
ज़िला बांदा

कुमार ज्वालाप्रसाद

गत अं० ११ पृ० १६४ से आगे सद्धर्मदूषणोद्धार का उत्तर ॥

यह धर्म से विरुद्ध अवश्य है और हमारा यही प्रयोजन भी है कि पाषाणों की मूर्त्तियों का पूजन धर्मानुकूल वा धर्म के लिये नहीं यह तो ठीक है कि पुजारियों की जीविका चलती है । द्वितीय सिद्ध निष्काम लोगों को भी मूर्त्तिपूजा करनी चाहिये इस अंश पर किसी का दृष्टान्त इतिहास द्वारा ही देना था कि किस शिष्ट पुरुष ने पहिले मूर्त्तिपूजा नित्य नियम से वा कभी २ की है । क्या राजारामचन्द्र जी वा श्रीकृष्ण जी आदि ने मूर्त्तिपूजा की यह सिद्ध हो सकता है ? । अर्थात् कदापि नहीं । आज कल भी संन्यासी लोग प्रायः मूर्त्तिपूजा नहीं करते । क्या दिखाने के लिये अनुपयोगी वा वेदविरुद्ध काम भी सिद्ध लोगों को करने चाहिये ? । अर्थात् कदापि नहीं । और मूर्त्तिपूजा का वेदविरुद्ध होना अनेक प्रमाणों से सिद्ध है । विशेष यथावसर लिखा गया वा लिखा जायगा ॥

इति सद्धर्मदूषणोद्धारे पञ्चमपरिच्छेदसमीक्षणम् ॥

अब इन पं० हरिशङ्कर शास्त्री जी के छठे परिच्छेद का संक्षेप यह है कि—"मनुस्मृति" का प्रमाण दयानन्द ने भी माना है इस लिये उस के प्रमाण से मूर्त्तिपूजा सिद्ध करते हैं ॥

"देवताभ्यर्चनं चैव । २ । १७" "देवतानां गुरोराज्ञः ४ । १३०" "देवतानां च पूजनम् । ४ । १५२," "दैवतान्यभिगच्छेत्तु । ४ । १५३" "देवतानां च कुत्सनम् । ४ । १६३" "देवतायतनानि च" "देवतागारभेदकान् । ९ । २८९०"

"इत्यादि श्लोकों में देवता शब्द से प्रतिमारूप देवता का ही ग्रहण है" यह उनका अभिप्राय मात्र लिखा है ।

इस का संक्षेप से उत्तर यह है कि जब देव या देवता शब्द किसी व्याकरण वा कोष के अनुसार किसी पाषाणादि प्रतिमा का वाचक नहीं है और शब्दार्थ होने वा कौन शब्द किस वस्तु का वाचक है इस बात का विवेचन करने के लिये व्याकरण वा कोष ही प्रमाण माना जाता है उन में कहीं भी देवता शब्द पत्थरादि की बनाई हुई जड़ मूर्त्तियों का वाचक नहीं और इसी कारण

पं० हरिशङ्कर शास्त्री जी ने इस विषय पर कोई प्रमाण भी नहीं दिया । यदि उन को कोई प्रमाण मिलता तो अवश्य लिखते क्योंकि इस प्रकार लिखने से उन्हीं का पक्ष पुष्ट होता । सो जब यह लेख उक्त प्रकार प्रमाण शून्य है तो विशेष उत्तर देने की भी आवश्यकता नहीं । यदि पाठक गणों में से कोई शास्त्री जी से लेकर पुष्ट प्रमाण इस की सिद्धि का मेरे पास भेजेगा तो अवश्य विशेष उत्तर दिया जायगा । द्वितीय यह भी है कि मैंने मानवधर्ममीमांसा नामक भाष्य करना प्रारम्भ किया है उस में मनुस्मृति के उक्त वचनों का निर्णय होगा । इस कारण भी यहां विशेष लिखना आवश्यकीय नहीं ॥

कदाचित् हरिशङ्कर शास्त्री जी इस में लोक परम्परा का प्रमाण देवें कि देव वा देवता शब्द लौकिक परम्परा से पाषाणादिमूर्त्तियों का वाचक प्रसिद्ध है । इसी कारण देवार्चनादिशब्दों से मूर्त्तियों का पूजनादि अर्थ लिया वा माना जाता है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी लौकिक परम्परा साध्यकोटि में है और प्रमाण वा हेतु सिद्धवस्तु का देना चाहिये । जैसे अन्धा अन्धे को मार्ग नहीं बता सकता वैसे साध्य से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती इसी लिये वह साध्यसम हेत्वाभास माना जावेगा । अर्थात् ऐसे प्रमाण से किसी पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती और वैसे प्रमाण का देने वाला भी अयोग्य समझा जाता है ॥

इस पर एक अंश यह भी है कि हरिशङ्कर शास्त्री जी कदाचित् व्याकरण के प्रतिकृति अर्थ में प्रत्यय विधायक प्रकरण की ओर भागें तो वहां भी उन को कुछ आश्रय मिलना कठिन है । क्योंकि प्रतिकृति अर्थ में प्रथम तो ऐसा कोई सूत्र नहीं जिस से प्रत्यय का लुप् हो कि " देवस्य प्रतिकृतिर्देवः । देवतायाः प्रतिकृतिर्देवता इत्यादि " और (जीविकार्थे चापण्ये) सूत्र से कदाचित् किसी प्रकार देव वा देवता शब्द से भी लुप् माना जावे तो क्या पत्थर आदि की पूजा वेदोक्तधर्म हो सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं । क्योंकि प्रतिकृति अर्थ में प्रत्यय विधान का प्रयोजन यह है कि प्रत्येक वस्तु की कृत्रिम (नक़ली) आकृति सनातन काल से बनती आयीं वा बननी चाहिये इसी को भाषान्तर में (तस्वीर वा फ़ोटो) कहते हैं इस से जैसे २ प्रयोजन मनुष्यों के सिद्ध हो सकते हैं वे हो रहे हैं । अनेक होग नानाप्रकार की प्रतिकृति बना २ कर अपनी २ जीविका चला रहे हैं । घोड़ा हाथी गधा सुअर आदि सभी की

प्रतिकृति बनती हैं । अनेक भित्तियों में रङ्ग से खींची जातीं अनेक माटी आदि वा कागज आदि की बनती हैं परन्तु उन को चन्दनादि से पूजना वा उन की पूजा से सद्गति मानना यह कहीं प्रसिद्ध नहीं । और न वेदादि ग्रन्थों में ही ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिस से बोध हो कि प्रतिकृतियों के पूजने से मनुष्य का कल्याण होता है इस लिये उन को पूजना चाहिये । अर्थात् वेद का स्पष्ट प्रमाण मिले कि देवता की प्रतिकृति पूजनी चाहिये तो धर्मशास्त्रों में भी उस के होने का अनुमान किया जावे । क्योंकि स्मृतियां वेदमूलक होने से ही प्रामाणिक मानी जाती हैं सो वेद में नही तो स्मृतियों में भी नहीं है । इस विषय पर अब लेख समाप्त करता हूं क्योंकि जब तक कोई पौराणिक पण्डित यह सिद्ध न कर देवे कि इन २ प्रमाण और युक्तियों से देव वा देवता शब्द पत्थर आदि की बनायी प्रतिकृतियों का वाचक है तब तक प्रश्न वा पूर्वपक्ष ही ठीक नहीं फिर किस का उत्तर देवें । हा षष्ठ परिच्छेद के अन्त में एक बात लिखी है कि-

"देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ॥ मनु० अ० ११ । श्लोक २६ "

इस श्लोक में जो " देवस्वं " पद है इस का अर्थ प्रतिमा के पूजने के लिये मन्दिर के व्ययार्थ निकाला धन लिखते हैं । सो यह बहुत बड़ी भूल है । क्यों कि इसी मनुस्मृति के अ० ११ श्लोक २० में स्पष्ट लिखा है कि-

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥

नियमानुसार यज्ञ करने वालों का जो धन है वह देवस्व वा देवधन और यज्ञ के विरोधियों का आसुर धन कहाता है । इसी से यह भी सिद्ध होता है कि वेदोक्त कर्म करने वाले देव और वेदविरोधी असुर कहाते हैं । किन्तु आज कल के वेदविरुद्ध मूर्त्तिपूजादि पौराणिक कर्म करने वाले भी इसी के अनुसार देव नही माने जा सकते तथा उन में अन्य भी देव होने की योग्यता नही पायी जाती । यदि मनु० ११ अध्याय को थोड़ा भी पूर्वापर देख लेते तो इतना विरुद्ध कदापि नहीं लिखते । देव और देवता शब्दो में कुछ अर्थभेद नही है । क्योंकि स्वार्थ में तल् प्रत्यय होकर देवता शब्द बनता है । इस पूर्वोक्त प्रमाण से यह भी

सिद्ध होता है कि वेदोक्त कर्मानुष्ठानी देव वा देवता कहाते हैं अनेक स्थलों में मनु० में भी उन्हीं देवताओं का ग्रहण है । कहीं २ देवता शब्द से यज्ञ वा ईश्वर का भी ग्रहण होता है । इसी लिये अग्निहोत्र का नाम देव वा देवयज्ञ रक्खा है । देव शब्द ईश्वर का भी वाचक है । सो जहां जैसा प्रकरण हो वहां वैसा अर्थ करना चाहिये ॥

इति सद्धर्मदूषणोद्धारे षष्ठपरिच्छेदसमीक्षणम् ॥

अब सप्तम परिच्छेद को भी देखिये इस के प्रारम्भ में उक्त पण्डित जी ने लिखा है कि याज्ञवल्क्य का इतिहास वेद में है सो यह ठीक नहीं क्योंकि वेद ईश्वर की अनादि विद्या मानी जाती है और पूर्व मीमांसादि शास्त्रकारों ने वेद को अपौरुषेय सिद्ध किया है इस कारण वेद में किसी निज मनुष्य का इतिहास नहीं होना चाहिये और जिन २ पुस्तकों में विशेष मनुष्यों का इतिहास हो उन को वेद नहीं मान सकते क्योंकि जिस में जिस का इतिहास होता है उस मनुष्यादि से पीछे उस पुस्तक का बनना स्वतः सिद्ध है । बृहस्पति स्मृति में लिखा है कि—

"वेदार्थोपनिबन्धृत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्नैव शस्यते ॥ "

वेदानुकूल होने से मनुस्मृति मुख्य है और मनु के अर्थ से जो विपरीत है वह स्मृति माननीय नहीं होती यह कथन सर्वसम्मत है इसी के अनुसार जब मनुस्मृति से पाषाणादि मूर्त्तियों का पूजन सिद्ध नहीं होता तो अन्य स्मृति से सिद्ध हुआ भी न माना जायगा क्योंकि वह सिद्ध करना मन्वर्थ विपरीत है और जिस प्रकार के वचन देवता आदि पदों सहित मनुस्मृति में दिखाये हैं वैसे याज्ञवल्क्यादि अन्य स्मृतियों में आवें तो उन की वही व्यवस्था हो जावेगी जो मनुस्मृति के वचनों की होती है और मुख्य तो यही सिद्धान्त है कि प्रथम तो स्मृति आदि का प्रमाण नहीं देना चाहिये किन्तु वेद के प्रमाण से ऐसे विषयों को सिद्ध करना चाहिये कि जिस को प्रतिपक्षी वेदानुकूल ही स्वीकार करता हो यदि कदाचित् स्मृति का प्रमाण देना भी उचित समझा जावे तो उसी के साथ उस विषय का मूल वेद में दिखलाना चाहिये और ऐसा न करके केवल अन्य ग्रन्थों से प्रमाण लिख मारना जिस किसी प्रकार पुस्तक पूरा करना है

ऐसों का उत्तर देना भी आवश्यक नहीं अर्थात् इस सप्तम परिच्छेद में आधुनिक ग्रन्थों के जो अनेक हेत्वाभास लिखे हैं उन का उत्तर हम कुछ नहीं देते क्योंकि वे ग्रन्थ भी प्रायः वेदानुकूल नहीं हैं।

वेद में इष्ट और पूर्त्त दो शब्द आया करते हैं इन का अर्थ प्रायः लोग श्रौतस्मार्त्त कर्म मानते हैं इष्ट शब्द का अर्थ वैदिक कर्म, पूर्त्त नाम स्मार्त्त कर्म का है यह लाक्षणिक अर्थ है। शब्दार्थ यह है कि इष्ट नाम यज्ञ और पूर्त्त नाम ससारी प्राणियों की पूर्त्ति तृप्ति सुख पहुंचाने वाला कर्म। अग्निष्टोम, वाजपेय आदि बड़े २ वा अग्निहोत्रादि छोटे २ यज्ञ इष्ट शब्द से लिये जाते हैं और अनाथालय, बावली, कुआं, तालाब आदि का बनवाना वा सर्वसाधारणों के निमित्त यज्ञशाला अर्थात् देवमन्दिर वा देवतायतन बनवाना (क्योंकि यज्ञशाला ही का नाम देवतायतन वा देवालय आदि सिद्ध हो सकता है) पूर्त्त कहलाता है इसी पूर्त्त शब्द से अनेक लोग मूर्त्तिपूजा भी निकालते हैं सो सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि आज कल की प्रचरित मूर्त्तिपूजा से किसी प्रकार की पूर्त्ति वा तृप्ति प्राणियों की नहीं है किन्तु क्रूर होने से विरोध तो दीख पड़ता है।

प्रतिमा शब्द पर हम एक वार आर्यसिद्धान्त में लिख चुके हैं इस लिये यहां विशेष लिखना आवश्यक नहीं तो भी यह कहते हैं कि प्रतिमाशब्द सेर आदि बटखरों का वाचक किसी प्रकार नहीं भी ठहरे तो क्या पत्थर आदि की मूर्त्तियों का पूजन वेदोक्त हो सकता है? अर्थात् नहीं। हां! प्रतिमा शब्द का अर्थ कोषादि के अनुसार सदृशता का बोधक है यह हम भी मानेंगे। जब कहा जावेगा कि अश्वप्रतिमा तो घोड़े के तुल्य आकृति वाली कोई प्रतिकृति भी समझी जायगी। इसी अर्थ से कदाचित् वर्त्तमान रामचन्द्र वा कृष्णचन्द्रादि की मूर्त्तियां भी प्रतिमा मानी जावें परन्तु उन में सदृशार्थ घटना दुर्लभ है। क्योंकि उन विद्यमान वस्तुओं की छाया वा प्रतिकृति ठीक २ आकृति के अनुसार बन सकती है कि बनाने वाला जिन को प्रत्यक्ष देखता हो। और जिस पुरुष ने उस मुख्य पुरुष वा वस्तु को नहीं देखा कि जिस की वह प्रतिकृति उतारना चाहता है तो कदापि ठीक २ प्रतिबिम्ब नहीं बनेगा। यदि कोई इस से विरुद्ध प्रतिज्ञा करे तो वह विना देखे वस्तु का यथार्थ प्रतिबिम्ब उतार के दिखावे। इसी के अनुसार जिन लोगों की प्रतिकृतियां आज कल पूजने के

लिये जो २ संगतराश आदि बनाते हैं उन्हों ने उन महात्माओं को जब नहीं देखा तो वे उन की प्रतिकृति कैसे बना सकते हैं ? । यदि कहें कि परम्परा से बनती आती हैं तो इस का सिद्ध कर सकना दुस्तर होगा कि त्रेतायुग में जब राजा रामचन्द्र जी हुए तब से ही बराबर उन का प्रतिबिम्ब बनता चला आता हो । द्वितीय बनाने वालों में भी यह नियम नहीं दीख पड़ता कि वे पहिली बनी हुई प्रतिकृतियों को देख कर उन्हीं के अनुसार बनाते हैं। तथा एक २ पुरुष की एक ही प्रकार की प्रतिकृति बनी हुई सब देश भर में प्रचरित हैं, यह भी नहीं दीखता किन्तु एक राजा रामचन्द्र जी के उपासक भिन्न २ प्रदेशों में भिन्न २ प्रकार की मूर्त्तियां बनाते हैं । और कुछ काल पहिले की बनी मूर्त्तियों से अब की बनी हुईयों में भेद है इन सब कारणों से प्रतीत होता है कि राजा रामचन्द्रादि के रङ्ग रूपानुकूल मूर्त्तियां बनाने का प्रचार नहीं चला है और इसी कारण उन के अनुकूल न बनने से प्रतिमाशब्द का सदृशार्थ भी यहां नहीं घट सकता फिर प्रतिमा शब्द के सदृशवाची होने पर भी यहां वर्त्तमान पत्थरादि की मूर्त्तियों का नाम प्रतिमा नहीं हो सकता क्योंकि उन में सदृशार्थ नहीं है । और इसी अर्थ से बटखरों का वाचक भी प्रतिमा शब्द हो सकता है क्योंकि अन्न आदि के भार की सदृशता का बोध सेर आदि से कराया जाता है कि अमुक वस्तु का इतना भार है कि जितना इस में है तथा शास्त्री जी "ऊर्ध्वमानं०" का भी तात्पर्य ठीक नहीं समझे क्योंकि तराजू में धर के वस्तु ऊपर को उठाया जाता है इस कारण तुला द्वारा तोलने को उन्मान कहते हैं । और करणकारक में प्रत्यय करने से सेर आदि बटखरों का भी उन्मान कह सकते हैं । परन्तु इतने से प्रतिपूर्वक मा धातु के प्रयोग बटखरों के वाचक नहीं यह निषेध नहीं निकल सकता क्योंकि सामान्यार्थवाचक पदों को अनेक स्थलों में शास्त्रकार विशेषार्थवाचक लिया करते हैं । इसी के अनुसार प्रतिमा शब्द भी सेर आदि का वाचक हो सकता है। तथा मनुस्मृति अ० ८ । ४०३ श्लोक—

"तुलामानं प्रतीमानं सर्व्वं च स्यात्सुलक्षितम् । "

में सातो टीकाकारों की सम्मति है कि प्रस्थ द्रोणादि अर्थ प्रतीमान शब्द से लिया जाना चाहिये । यदि शङ्का हो तो मेधातिथ्यादि भाष्यों को देख लेवें । इस सब लेख से यह सिद्ध हो चुका कि प्रतिमा शब्द का अर्थ सेर आदि हो सकता है ॥

प्रकाशीप्रसाद गुप्त:

पुस्तक	मूल्य
पाखण्डमतकुठार	=)
जीवनयात्रा	≡)
किरानीलीला—वेश्यालीला	)॥
नीतिसार	-)॥
हितशिक्षा	-)॥
नीतिशिक्षावली	)।
बारहमासी झूलना	)॥।
हिन्दी का प्रथम पुस्तक	-)
द्वितीयपुस्तक	≡)
शास्त्रार्थ खुर्जा	-)
शास्त्रार्थ किराणा	=)

भजनपुस्तकें—

पुस्तक	मूल्य
भजनामृतसरोवर	=)॥
सत्यसङ्गीत	)।
उपदेशभजनावली	)।
सदुपदेश	)।
भजनेन्दु	-)
वनिताविनोद	=)
सङ्गीतरत्नाकर	=)
(स्त्रियों को) नारीसुदशाप्रवर्त्तक ४ भाग	१)
* बुद्धिमती	।)
* सुन्दरीसुधार	१)
* सीताचरित्र नाविल प्रथमभाग	॥।)
स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी	=)॥
* भूतलीला	=)॥
* बाल्यविवाहनाटक	-)॥
* शिल्पसङ्ग्रह	

पुस्तक	मूल्य
सत्यार्थप्रकाश	२)
वेदभाष्यभूमिका	२॥)
संस्कारविधि	१।)
पञ्चमहायज्ञ	≡)॥
आर्याभिविनय	।)
निघण्टु	।=)
धातुपाठ	।=)
वर्णोच्चारणशिक्षा	-)
गणपाठ	।-
निरुक्त	१
शास्त्रार्थ फीरोजाबाद	≡
स्वामीजी का स्वमन्तव्यामन्तव्य	)
नियमोपनियम आर्यसमाज के.	)
करपल्लवी इशारों से बातचीत करने की विधि है	-
वेश्यानाटक उर्दू में	=)
व्याख्यानसागर	।-

आर्यसमाज के नियम =)॥। सैकड़ा १॥।) हजार।

व्याख्यान देने का सामान्य विज्ञाप[न] जिस में चार जगह खानापूरी कर ले[ं] पर सब का काम निकलता है मूल्य प्रति सैकड़ा =),

डाक महसूल सब का मूल्य से पृथ[क] लिया जायगा॥

भीमसेन शर्मा—सम्पादक आर्यसिद्धा[न्त]
प्रयाग

☞ * चिह्न युक्त पुस्तकें नई बिकने को प्रस्तुत हुई हैं॥

mutual credits provided; as the most acute problem of all in international economics has been the great shortage of liquidity since the war, it would be a pity to dispense with any net contribution, albeit one on a regional basis, to the amount of international liquidity available.

§ 6. **Summary.** It appears that the move since the war towards greater international co-operation has been piecemeal and not very extensive. It is thought, however, that the next step should be for all the nations to get their own houses more thoroughly in order. The thinking that has taken place and the plans that have been made, incomplete and fragmentary as these have been, make it quite certain that, should a world wide depression recur, there would be quick moves towards closer collaboration between the various countries. If no depression occurs, but a phase of high activity, tending towards inflationary pressure, continues, the main emphasis will be on the separate actions of national Governments At the same time we may hope for moderate improvements and refinements in the machinery for co-operation

APPENDIX

THE principles by which the figures in the tables in Chapter II are calculated may be explained as follows·

1. Tables VII, IX and XI. It is assumed that cost gradients are in all four cases linear and proportional to initial costs in the respective countries. Transport costs are neglected.

Let r be the final ratio of the cost of wheat to the cost of coal, at home and abroad, as it is established in the final equilibrium $1/r$ thus represents the number of units of wheat that can be had in exchange for one unit of coal in that equilibrium Let q be the change in cost consequent on the shift in production due to the opening of trade. Let p be the initial cost abroad of 1 unit of coal prior to the opening of trade (Other initial costs are each 1 by the definition of the units of product and cost.)

The final position may be represented as follows:

	Cost at home	Cost abroad
Unit of wheat . .	$1-q$	$1+q$
Unit of coal . . .	$1+q$	$p(1-q)$

We then have:

$$\frac{1-q}{1+q}=r=\frac{1+q}{p(1-q)}$$

from which it follows that:

$$r=\frac{1}{\sqrt{p}} \quad . \ (1)$$

and

$$q=\frac{1-r}{1+r} \quad .. \ (2)$$

These equations suffice for the calculation of the final positions on various assumptions as to the value of p, i e the degree of initial disparity of cost ratios.

In the first edition of this book the cost of a unit of wheat in final equilibrium was written down as $1-\frac{q}{r}$ at home and $1+\frac{q}{r}$ abroad, on the ground that the reduction in the number of units of wheat produced at home would be greater, in the proportion $\frac{1}{r}$, than the increase in the number of units of coal, since $\frac{1}{r}$ units of wheat could be obtained in foreign trade per unit of coal exported The insertion of $\frac{1}{r}$ in the upper lines of all the tables necessarily complicated the calculations and, on reflection, I have decided that it is inappropriate (It also leads to somewhat unrealistic conclusions.) The question turns on what units of coal and wheat we use when we work on the assumption that their cost gradients are proportional to initial costs. In the first edition I adhered to the units of product contained in the initial definitions (viz. one unit of coal is that amount of coal which costs the same to produce as one unit of wheat, before trade, in the home country). But these units have no special validity It must be remembered that the facts set out in Table V in the text could be equally well represented as follows, by merely defining a unit of coal as that amount of coal which cost the same to produce in the outside world, before trade, as a unit of wheat:

INITIAL POSITION

	Cost at home	Cost abroad
Unit of wheat . . .	$1x$	$1y$
Unit of coal . . .	$\frac{1}{4}x$	$1y$

Taking these units, r in the final equilibrium would be not 1.2, but 2:1. By this definition a unit of coal would only be one-quarter of the unit of coal as defined for the purpose of Table V As conditions at home have no logical priority over those abroad, or vice versa, it has seemed most natural

and appropriate to take the geometric mean of these two units, giving a final ratio of 1:1, in calculating the cost gradient. Then, since $r=1$ (*for this purpose only*) it disappears from the top row expressions in Tables VII, IX and XI. More generally it has seemed expedient for the purpose of calculating proportional cost gradients, to take 1 unit of coal to be that amount of coal which exchanges for 1 unit of wheat in the final equilibrium This enables us to dispense with any reference to r in the top row expressions in all the tables. It seems most natural to take 1 unit of coal to be that amount which exchanges for 1 unit of wheat after the world has entered into full trading relations It is to be remembered that in postulating proportional gradients, we are not asserting anything as fact or as the most probable relation. We are merely concerned to set up a schema whereby the effect of varying certain variables, including the gradients themselves, may be demonstrated.

2 Table XIII. I have assumed gradients to be in inverse proportion to the amount of production in the region Let n represent the ratio of home production to the production of the outside world prior to trade. We then have:

FINAL POSITION

	Cost at home	Cost abroad
Unit of wheat . . .	$1-q$	$1+nq$
Unit of coal . . .	$1+q$	$p(1-nq)$

3. Tables XIV and XV. g is the change in cost in the home country per unit change in the amount produced divided by $^1/_n$ times the change in cost abroad per unit change in the amount produced. We then have·

FINAL POSITION

	Cost at home	Cost abroad
Unit of wheat . . .	$1-gq$	$1+nq$
Unit of coal . .	$1+gq$	$p(1-nq)$

In Table XV $n=1$

Reference is made in the text (p. 31) to gain per unit of foreign trade. This it is impossible to determine in absolute terms without knowing how much the rise in the cost of producing coal is due to "rent" elements (cf. p 26). If it were entirely due to rent, then the gain per unit of trade would be equal to the new ratio minus the pre-trade ratio, viz. in Table XV, 1·59 minus 1. If no rent element entered in, then, assuming equal gradients for wheat and coal, it would be half this. In comparing Table XV with Table IX it is proper to assume that the same proportion of the rise in the cost of coal is due in both cases to rent. Since, for the comparison, it is not needful to know the absolute amount of gain per unit, we may take ·59 (viz 1·59−1) as the measure of the gain in Table XV to be compared with ·414 . (viz 1·414−1) as the measure of the gain in Table IX.

A Tariff and the Quantity and Terms of Trade

Let a uniform tariff of amount t be imposed by the home country, where t stands for the ratio of tariff to price. Represent $(1+t)$ by T

The schema for full trade is as follows.

	Cost at home	Cost abroad
Unit of wheat	$1-gq$	$1+nq$
Unit of coal .	$1+gq$	$p(1-nq)$
Ratio of costs .	Tr	r

In the case where $g=1$ and $n=1$

$$r=\frac{1}{\sqrt{T}\sqrt{p}}$$

and

$$q=\frac{\sqrt{p}-\sqrt{T}}{\sqrt{p}+\sqrt{T}}$$

The terms of trade confronting the home country are represented by r The smaller is r, the more favourable are

the terms. Let r represent the terms under free trade and r_1 the terms when there is a tariff of t_1. In comparing the gain *per unit of trade* when there is a given tariff with the free trade position, we may take $1-r_1$ and $1-r_0$ as indexes of gain per unit. This implies that rent elements play the same proportional part in both cases

Any tariff increases the gain per unit of trade while reducing the quantity of trade It seems that in most cases, where the rest of the world is at all large by comparison with the home country, any tariff whatever will reduce the quantity by a greater proportion than it increases the gain per unit, and will thus cause a net loss This is not in line with some doctrines that have been propounded recently.

I am not able to supply a general formula The upshot depends primarily (i) on the size of the world in comparison with the home country ($^1/_n$ above) and (ii) on the degree of divergence of comparative costs (p above) Where the divergence is large, there is greater scope for the possibility of gain by tariff If trade is reduced by a tariff to vanishing point, the most favourable value that r can achieve is $^1/_p$ Consequently the scope for an improvement in r, as trade is cut off, depends on the amount of its divergence from $^1/_p$ in the free trade position. Where the rest of the world is relatively large, this divergence is in any case small, consequently the rate of improvement in the ratio, as trade is reduced, is small and a tariff must bring net loss But the chance that r will diverge substantially from $^1/_p$ in the free trade position is greater, the greater is p.

Where the difference in comparative cost is no more than in the ratio 2.1 ($p=2$), it appears that a tariff will involve a net loss whenever the rest of the world is somewhat larger than the home country. Where the rest of the world is four times as great as the home country or more, it appears that there will be net loss for all values of p. But where the rest of the world is substantially smaller than this and p is very large, there are possibilities of net gain.

It is to be noted that the measure of gain provided by the

schema is a hard physical measure. It operates in terms of the quantity of wheat that can be secured for a country by the devotion of a given quantity of resources to the production of coal for export instead of devoting them to the direct production of wheat It does not allow for further gains from trade that may accrue when *demand* is taken into account and new consumers' surpluses accrue through the adaptation of consumer budgets to the new price structure set up in consequence of trade.

MADE AND PRINTED IN GREAT BRITAIN BY WILLIAM CLOWES AND SONS, LIMITED
LONDON AND BECCLES